प्रेमचंद

प्रेम-प्रसून

सरस्वती प्रेस बनारस

सरस्वती प्रेस,

बनारस

द्वितीय संस्करण १९५९

मूल्य तीन रुपये पचास नये पैसे

मुद्रक : द्वारकानाथ भार्गव,

भार्गव प्रेस, १ बाई-का-बाग,

इलाहाबाद–३

सूची

भूमिका

गल्प, आख्यायिका या छोटी कहानी लिखने की प्रथा प्राचीनकाल से चली आती है। धर्म-ग्रन्थों में जो दृष्टान्त भरे पड़े हैं, वे छोटी कहानियाँ ही हैं, पर कितनी उच्च कोटि की। महाभारत, उपनिषद्, बुद्ध-जातक, बाइबिल, सभी सद्ग्रंथों में जन-शिक्षा का यही साधन उपयुक्त समझा गया है। ज्ञान और तत्त्व की बातें इतनी सरल रीति से और क्योंकर समझाई जातीं? किन्तु प्राचीन ऋषि इन दृष्टान्तों द्वारा केवल आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वों का निरूपण करते थे। उनका अभिप्राय केवल मनोरंजन न होता था। सद्ग्रंथों के रूपकों और बाईबिल के Parables देखकर तो यही कहना पड़ता है कि अगले जो कुछ कर ले गये, वह हमारी शक्ति से बाहर है; कितनी विशुद्ध कल्पना, कितना मौलिक निरूपण, कितनी ओजस्विनी रचना-शैली है कि उसे देखकर वर्तमान साहित्यिक-बुद्धि चकरा जाती है। आजकल आख्यायिका का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। उसमें प्रेम की कहानियाँ, जासूसी किस्से, भ्रमण-वृत्तान्त, अद्भुत घटना, विज्ञान की बातें, यहाँ तक कि मित्रों की गप-शप सभी शामिल कर दी जाती हैं। एक अँगरेज़ी समालोचक के मतानुसार तो कोई रचना, जो पन्द्रह मिनट में पढ़ी जा सके, गल्प कही जा सकती है। और-तो-और उसका यथार्थ उद्देश्य इतना अनिश्चित हो गया है कि उसमें किसी प्रकार का उपदेश होना दूषण समझा जाने लगा है। वह कहानी सबसे नाक़िस समझी जाती है, जिसमें उपदेश की छाया भी पड़ जाय।

आख्यायिकाओं द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रथा धर्म-ग्रंथों ही में नहीं, साहित्य-ग्रंथों में भी प्रचलित थी। कथा-सरित्सागर इसका उदाहरण है। इसके पश्चात् बहुत-सी आख्यायिकाओं को एक शृंखला में बाँधने की प्रथा चली। बैताल-पच्चीसी और सिंहासन-बत्तीसी इसी श्रेणी की पुस्तकें हैं। उनमें कितनी नैतिक और धार्मिक समस्याएँ हल की गयी हैं, यह उन लोगों से छिपा नहीं, जिन्होंने उनका अध्ययन किया है। अरबी में सहस्र-रजनी-चरित्र इसी भाँति का अद्भुत संग्रह है, किन्तु उसमें किसी भाँति का उपदेश देने की चेष्टा नहीं की गयी। उसमें सभी रसों का समावेश है, पर अद्भुत-रस ही की प्रधानता है, और अद्भुत-रस में उपदेश की गुंजाइश नहीं रहती। कदाचित् उसी आदर्श

को लेकर इस देश में शुक-बहत्तरी के ढंग की कथाएँ रची गयीं, जिसमें स्त्रियों की बेवफ़ाई का राग अलापा गया है। यूनान में हकीम ईसप ने एक नया ही ढंग निकाला। उन्होंने पशु-पक्षियों की कहानियों द्वारा उपदेश देने का आविष्कार किया।

मध्यकाल काव्य और नाटक-रचना का काल था; आख्यायिकाओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। उस समय कहीं तो भक्ति-काव्य की प्रधानता रही, कहीं राजों के कीर्तिगान की। हाँ, शेख़सादी ने फ़ारसी में गुलिस्ताँ-बोस्ताँ की रचना करके आख्यायिकाओं की मर्यादा रखी। यह उपदेश-कुसुम इतना मनोहर और सुन्दर है कि चिरकाल तक प्रेमियों के हृदय इसकी सुगन्ध से रंजित होते रहेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी में फिर आख्यायिकाओं की ओर साहित्यकारों की प्रवृत्ति हुई; और तभी से सभ्य-साहित्य में इनका विशेष महत्त्व है। योरप की सभी-भाषाओं में गल्पों का यथेष्ट प्रचार है, पर मेरे विचार में फ्रांस और रूस के साहित्य में जितनी उच्च कोटि की गल्पें पायी जाती हैं, उतनी अन्य यूरोपीय भाषाओं में नहीं। अँगरेज़ी में भी डिकेन्स, वेल्स, हार्डी, किप्लिंग, शार्लट यंग, ब्रांटी आदि ने कहानियाँ लिखी है, लेकिन इनकी रचनाएँ मोपासाँ, बालज़क या पियेपलोटी के टक्कर की नहीं। फ्रांसीसी कहानियों में सरसता की मात्रा बहुत-अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त मोपासाँ और बालज़क ने आख्यायिका के आदर्श को हाथ से नहीं जाने दिया है। उनमें आध्यात्मिक या सामाजिक गुत्थियाँ अवश्य सुलझायी गयी हैं। रूस में सबसे उत्तम कहानियाँ काउण्ट टॉलस्टॉय की हैं। इनमें कई तो ऐसी हैं, जो प्राचीन काल के दृष्टान्तों की कोटि की हैं। चेकाफ़ ने बहुत कहानियाँ लिखी हैं, और योरप में उनका प्रचार भी बहुत है; किन्तु उनमें रूस के विलास-प्रिय समाज के जीवन-चित्रों के सिवा और कोई विशेषता नहीं। डास्टाव्स्की ने भी उपन्यासों के अतिरिक्त कहानियाँ लिखी हैं, पर उनमें मनोभावों की दुर्बलता दिखाने ही की चेष्टा की गयी है। भारत में बंकिमचंद्र और डॉक्टर रवीन्द्रनाथ ने कहानियाँ लिखी हैं, और उनमें से कितनी ही बहुत उच्च कोटि की हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि आख्यायिका और उपन्यास में आकार के अतिरिक्त और भी कोई अन्तर है? हाँ, है, और बहुत बड़ा अन्तर है। उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है; आख्यायिका केवल एक घटना है—

अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लायें, चाहे जितने दृश्य दिखायें, चाहे जितने चरित्र खींचें; पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनाएँ और चरित्र एक ही केन्द्र पर आकार मिल जायँ। उनमें कितने ही चरित्र केवल मनोभाव दिखाने के लिए रहते हैं। पर आख्यायिका में इस बाहुल्य की गुंजाइश नहीं, बल्कि कई सुविज्ञ जनों की सम्मति तो यह है कि उसमें केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिए। उपन्यास में आपकी क़लम में जितनी शक्ति हो, उतना ज़ोर दिखाइए, राजनीति पर तर्क कीजिए, किसी महफ़िल के वर्णन में दस-बीस पृष्ठ लिख डालिए (भाषा सरस होनी चाहिए) ये कोई दूषण नहीं। आख्यायिका में आप महफ़िल के सामने चले जायेंगे, और बहुत उत्सुक होने पर भी आप उसकी ओर निगाह नहीं उठा सकते। वहाँ तो एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिए, जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास रुपया है; और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिनके पास न धन है, न समय। यहाँ तो सरलता में सरलता पैदा कीजिए, यही कमाल है। कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफ़िल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को उतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात-भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।

हम जब किसी अपरिचित प्राणी से मिलते हैं, तो स्वभावतः यह जानना चाहते हैं कि यह कौन है, पहले उससे परिचय करना आवश्यक समझते हैं। पर आजकल कथा भिन्न-भिन्न रूप से आरम्भ की जाती है। कहीं दो मित्रों की बातचीत से कथा आरम्भ हो जाती है, कहीं पुलिसकोर्ट के एक दृश्य से। परिचय पीछे आता है। यह अँग्रेज़ी आख्यायिकाओं की नक़ल है। इससे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है। योरपवालों की देखा-देखी यन्त्रों द्वारा, डायरी या टिप्पणियों द्वारा भी कहानियाँ लिखी जाती हैं। मैंने स्वयं इन सभी प्रथाओं पर रचना की है; पर वास्तव में इससे कहानी की सरलता में बाधा पड़ती है। योरप के विज्ञ समालोचक कहानियों के लिए किसी

अन्त की भी ज़रूरत नहीं समझते। इसका कारण यही है कि वे लोग कहानिय
केवल मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं। आपको एक लेडी लन्दन के किसी होटल
में मिल जाती है। उसके साथ उसकी वृद्धा माता भी है। माता कन्या से किसी
विशेष पुरुष से विवाह करने के लिए आग्रह करती है। लड़की ने अपना दूसर
वर ठीक कर रखा है। माँ बिगड़कर कहती है—मैं तुझे अपना धन न दूँगी
कन्या कहती है, मुझे इसकी परवाह नहीं। अन्त में माता अपनी लड़की से
रूठकर चली जाती है। लड़की निराशा की दशा में बैठी है कि उसका अपना
पसन्द किया युवक आता है। दोनों में बातचीत होती है। युवक का प्रेम सच्चा
है। वह बिना धन के ही विवाह करने पर राज़ी हो जाता है। विवाह होता
है। कुछ दिनों तक स्त्री-पुरुष सुख-पूर्वक रहते हैं। इसके बाद पुरुष धनाभाव
से किसी दूसरी धनवान् स्त्री की टोह लेने लगता है। उसकी स्त्री को इसकी
ख़बर हो जाती है, और वह एक दिन घर से निकल जाती है। बस कहानी
समाप्त कर दी जाती है; क्योंकि **Realist** अर्थात् यथार्थवादियों का कथन है
कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नज़र नहीं आता, बल्कि बहुधा
बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता
है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फ़ायदा ही क्या, वह तो हम अपनी आँखों
से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग
रहना चाहिए, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही ग़ायब हो जाता है। वह
साहित्य को समाज का दर्पण-मात्र नहीं मानता; बल्कि दीपक मानता है
जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही
का समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए
हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य को दूर न जाना पड़े

हमने इन कहानियों में आदर्श को यथार्थ से मिलाने की चेष्टा की है।
हम कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय पाठक ही कर सकते हैं। हमारा
ख़्याल है कि आख्यायिका में ये तीन गुण अवश्य होने चाहिए—(१) आध्या-
त्मिक या नैतिक उपदेश, (२) अत्यन्त सरल भाषा, (३) स्वाभाविक वर्णन-
शैली। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार इन कहानियों की रचना की गयी है। आशा
है, पाठकों का इनसे मनोरंजन होगा।

प्रेमचन्द

शाप

मैं बर्लिन नगर का निवासी हूँ। मेरे पूज्य पिता भौतिक विज्ञान के सुविख्यात
ाता थे। भौगोलिक अन्वेषण का शौक़ मुझे भी बाल्यावस्था ही से था।
उनके स्वर्गवास के बाद मुझे यह धुन सवार हुई कि पृथ्वी के समस्त देश-
देशान्तरों की पैदल सैर करूँ। मैं विपुल धन का स्वामी था, वे सब रुपए एक
ंक में जमा कर दिये, और उससे शर्त कर ली कि मुझे यथा समय रुपये
ेजता रहे। इस कार्य से निवृत्त होकर मैंने सफ़र का पूरा सामान किया।
ावश्यक वैज्ञानिक यंत्र साथ लिये, और ईश्वर का नाम लेकर चल खड़ा
ुआ। उस समय यह कल्पना मेरे हृदय में गुदगुदी पैदा कर रही थी कि मैं
ह पहला प्राणी हूँ, जिसे यह बात सूझी कि पैरों से पृथ्वी को नापे। अन्य
ात्रियों ने रेल, जहाज और मोटरकार की शरण ली है; मैं पहला ही वह
ीरात्मा हूँ, जिसने अपने पैरों के बूते पर प्रकृति के विराट् उपवन की सैर के
लिए कमर बाँधी है। अगर मेरे साहस और उत्साह ने यह कष्ट-साध्य यात्रा
ूरी कर ली, तो भद्र-संसार मुझे सम्मान और गौरव के मसनद पर बैठायेगा,
ौर अन्त काल तक मेरी कीर्ति के राग अलापे जायेंगे, उस समय मेरा मस्तिष्क
न्हीं विचारों से भरा हुआ था। ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि सहस्रों कठि-
ाइयों का सामना करने पर भी धैर्य ने मेरा साथ न छोड़ा, और उत्साह एक
्षण के लिए भी निरुत्साह न हुआ।

मैं वर्षों ऐसे स्थानों में रहा हूँ, जहाँ निर्जनता के सिवा कोई दूसरा साथी
था, वर्षों ऐसे स्थानों में रहा हूँ, जहाँ की पृथ्वी और आकाश हिम की शिलाएँ
ीं; भयंकर जन्तुओं के पहलू में सोया हूँ, पक्षियों के घोसलों में रातें काटी हैं,
िन्तु ये सारी बाधाएँ कट गयीं, और वह समय अब दूर नहीं कि साहित्य और
िज्ञान-संसार मेरे चरणों पर शीश नवाये।

मैंने इस यात्रा में बड़े-बड़े अद्भुत दृश्य देखे, और कितनी ही जातियों के
ाहार-व्यवहार, रहन-सहन का अवलोकन किया। मेरा यात्रा-वृत्तान्त विचार,

अनुभव और निरीक्षण का एक अमूल्य रत्न होगा। मैंने ऐसी-ऐसी आश्च
जनक घटनाएँ आँखों से देखी हैं, जो अलिफ़लैला की कथाओं से कम मन
रंजक न होंगी। परन्तु वह घटना, जो मैंने ज्ञानसरोवर के तट पर देखी, उस
मिसाल मुश्किल से मिलेगी। मैं उसे कभी न भूलूँगा। यदि मेरे इस तम
परिश्रम का उपहार यही एक रहस्य होता, तो भी मैं उसे काफ़ी समझता।
यह बता देना आवश्यक समझता हूँ कि मैं मिथ्यावादी नहीं, और न सिद्धियों त
विभूतियों पर मेरा विश्वास है। यदि कोई दूसरा प्राणी यही घटना मुझसे बय
करता, तो मुझे उसपर विश्वास करने में बहुत संकोच होता। किन्तु मैं जो कु
बयान कर रहा हूँ, वह सत्य घटना है। यदि मेरे इस आश्वासन पर भी क
उसपर अविश्वास करे, तो यह उसकी मानसिक दुर्बलता और विचारों
संकीर्णता है।

यात्रा का सातवाँ वर्ष था और ज्येष्ठ का महीना। मैं हिमालय के दाम
में, ज्ञानसरोवर के तट पर, हरी-हरी घास पर लेटा हुआ था। ऋतु अत्य
सुहावनी थी—ज्ञानसरोवर के स्वच्छ, निर्मल जल में आकाश और पर्वत-श्रे
का प्रतिबिम्ब, जल-पक्षियों का पानी पर तैरना, शुभ्र हिम-श्रेणी का सूर्य
प्रकाश से चमकना आदि दृश्य ऐसे मनोहर थे कि मैं आत्मोल्लास से विह्व
हो गया। मैंने स्विट्ज़रलैंड और अमेरिका के बहुप्रशंसित दृश्य देखे, पर उन
यह शान्तिप्रद शोभा कहाँ! मानव-बुद्धि ने उनके प्राकृतिक सौन्दर्य को अप
कृत्रिमता से कलंकित कर दिया है। मैं तल्लीन होकर इस स्वर्गीय आनन्द का उ
भोग कर रहा था कि सहसा मेरी दृष्टि एक सिंह पर जा पड़ी, जो मन्द गति
क़दम बढ़ाता हुआ मेरी ओर आ रहा था। उसे देखते ही मेरा खून सू
गया, होश उड़ गये। ऐसा वृहदाकार भयंकर जन्तु मेरी नज़र से न गुजरा थ
वहाँ ज्ञानसरोवर के अतिरिक्त कोई ऐसा स्थान नहीं था, जहाँ भागकर अपनी ज
बचाता। मैं तैरने में कुशल हूँ, पर ऐसा भयभीत हो गया कि अपने स्थान
हिल न सका। मेरे अंग-प्रत्यंग मेरे क़ाबू से बाहर थे। समझ गया, मेरी ज़िन्द
यहीं तक थी। इस शेर के पंजे से बचने की कोई आशा न थी। अकस्म
मुझे स्मरण हुआ कि जेब में एक पिस्तौल, गोलियों से भरी हुई रखी है,
मैंने आत्मरक्षा के लिए चलते समय साथ ले ली थी, और अब तक प्राण-प

इसकी रक्षा करता आया था। आश्चर्य है कि इतनी देर तक मेरी स्मृति कहाँ सोयी रही! मैंने तुरन्त ही पिस्तौल निकाली, और निकट था कि शेर पर वार करूँ कि मेरे कानों में ये शब्द सुनायी दिये—मुसाफ़िर, ईश्वर के लिए वार न करना, अन्यथा तुझे दुःख होगा। सिंहराज से तुझे हानि न पहुँचेगी।

मैंने चकित होकर पीछे की ओर देखा, तो एक युवती रमणी आती हुई दिखायी दी। उसके एक हाथ में सोने का लोटा था और दूसरे में एक थाली। मैंने अर्मनी की हूरें और कोहक़ाफ़ की परियाँ देखी हैं, पर हिमालय पर्वत की यह अप्सरा मैंने एक ही बार देखी, और उसका चित्र आज तक हृदय-पट पर खिंचा हुआ है। मुझे स्मरण नहीं कि 'रफ़ैल' या 'क़ोरेजियो, ने भी कभी ऐसा चित्र खींचा हो। 'वैंडाइक' और 'रेमब्रांड' के आकृति-चित्रों में भी ऐसी मनोहर छवि नहीं देखी। पिस्तौल मेरे हाथ से गिर पड़ी। कोई दूसरी शक्ति इस समय मुझे अपनी भयावह परिस्थिति से निश्चिन्त न कर सकती थी।

मैं उस सुन्दरी की ओर देख ही रहा था कि वह सिंह के पास आयी। सिंह उसे देखते ही खड़ा हो गया, और मेरी ओर सशंक नेत्रों से देखकर मेघ की भाँति गरजा। रमणी ने एक रूमाल निकालकर उसका मुँह पोंछा, और फिर लोटे से दूध उँडेलकर उसके सामने रख दिया। सिंह दूध पीने लगा। मेरे विस्मय की अब कोई सीमा न थी। चकित था कि यह कोई तिलिस्म है या जादू; व्यवहार-लोक में हूँ अथवा विचार-लोक में; सोता हूँ या जागता। मैंने बहुधा सरकसों में पालतू शेर देखे हैं, किन्तु उन्हें क़ाबू में रखने के लिए किन-किन रक्षा-विधानों से काम लिया जाता है! उसके प्रतिकूल यह मांसाहारी पशु उस रमणी के सम्मुख इस भाँति लेटा हुआ है, मानो वह सिंह की योनि में कोई मृग-शावक है। मन में प्रश्न हुआ—सुन्दरी में कौन-सी चमत्कारिक शक्ति है, जिससे सिंह को इस प्रकार वशीभूत कर लिया है। क्या पशु भी अपने हृदय में कोमल और रसिक-भाव छिपाये रखते हैं? कहते हैं कि महुअर का अलाप काले नाग को भी मस्त कर देता है। जब ध्वनि में यह सिद्धि है, तो सौन्दर्य की शक्ति का अनुमान कौन कर सकता है? रूप-लालित्य संसार का सबसे अमूल्य रत्न है, प्रकृति की रचना-नैपुण्य का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है।

जब सिंह दूध पी चुका तो सुन्दरी ने रूमाल से फिर उसका मुँह पोंछा,

और उसका सिर अपनी जाँघ पर रख उसे थपकियाँ देने लगी। सिंह
हिलाता था, और सुन्दरी की अरुणवर्ण हथेलियों को चाटता था। थोड़ी
के बाद दोनों एक गुफा में अन्तर्हित हो गये। मुझे भी धुन सवार हुई कि कि
प्रकार इस तिलिस्म को खोलूँ, इस रहस्य का उद्घाटन करूँ। जब दो
अदृश्य हो गये, तो मैं भी उठा, और दबे-पाँव उस गुफा के द्वार तक
पहुँचा। भय से मेरे शरीर की बोटी-बोटी काँप रही थी, मगर इस रहस्य-पट
खोलने की उत्सुकता भय को दबाये हुए थी। मैंने गुफा के भीतर झाँका,
क्या देखता हूँ कि पृथ्वी पर ज़री का फ़र्श बिछा हुआ है, और कारचो
गावतकिये लगे हैं। सिंह मसनद पर गर्व से बैठा हुआ है। सोने-चाँदी
पात्र, सुन्दर चित्र, फूलों के गमले, सभी अपने-अपने स्थान पर सजे हुए
और वह गुफा राजभवन को भी लज्जित कर रही है।

द्वार पर मेरी परछाईं देखकर वह सुन्दरी बाहर निकल आयी, और मुझ
बोली—यात्री, तू कौन है, और इधर क्योंकर आ निकला?

कितनी मनोहर ध्वनि थी! मैंने अबकी बार समीप से देखा, तो सुन्द
का मुख कुम्हलाया हुआ था। उसके नेत्रों से निराशा झलक रही थी, उस
स्वर में भी करुणा और व्यथा की खटक थी।

मैंने उत्तर दिया—देवी, मैं योरप का निवासी हूँ, यहाँ देशाटन कर
आया हूँ। मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे आपसे संभाषण करने का गौरव प्रा
हुआ।

सुन्दरी के गुलाब-से होठों पर मधुर मुस्कान की झलक दिखायी दी
उसमें कुछ कुटिल हास्य का भी अंश था। कदाचित् यह मेरी इस अस्वाभा
विक वाक्यशैली का जवाब था। बोली—तू विदेश से यहाँ आया है। अथिति
सत्कार हमारा कर्त्तव्य है, मैं आज तेरा निमन्त्रण करती हूँ, स्वीकार कर।

मैंने अवसर देखकर उत्तर दिया—आपकी यह कृपा मेरे लिए गौरव क
बात है। पर इस रहस्य ने मेरी भूख-प्यास बन्द कर दी है। क्या मैं आश
करूँ कि इस पर कुछ प्रकाश डालेंगी?

सुन्दरी ने ठंडी साँस लेकर कहा—मेरी राम कहानी विपत्ति की एक बड़
कथा है, तुझे सुनकर दुःख होगा।

किन्तु मैंने जब बहुत आग्रह किया, तो उसने मुझे फ़र्श पर बैठने का
ंकेत किया, और अपना वृत्तान्त सुनाने लगी—

मैं कश्मीर-देश की रहनेवाली राजकन्या हूँ। मेरा विवाह एक राजपूत
ोद्धा से हुआ था। उनका नाम नृसिंहदेव था। हम दोनों बड़े आनन्द से
ीवन व्यतीत करते थे। संसार का सर्वोत्तम पदार्थ रूप है, दूसरा स्वास्थ्य और
ीसरा धन। परमात्मा ने हमको ये तीनों ही पदार्थ प्रचुर परिमाण में प्रदान किये
। खेद है, मैं उनसे तेरी मुलाकात नहीं करा सकती। ऐसा साहसी, ऐसा
ुन्दर, ऐसा विद्वान् पुरुष सारे कश्मीर में न था। मैं उनकी आराधना करती
ी। उनका मेरे ऊपर अपार स्नेह था। कई वर्षों तक हमारा जीवन एक
ल-स्त्रोत की भाँति वृक्ष-पुंजों और हरे-हरे मैदान में प्रवाहित होता रहा।

मेरे पड़ोस में एक मन्दिर था। उसके पुजारी एक पंडित श्रीधर थे। हम
ोनों प्रातःकाल तथा सन्ध्या समय उस मन्दिर में उपासना के लिए जाते।
ेरे स्वामी कृष्ण के भक्त थे। मन्दिर एक सुरम्य सागर के तट पर बना हुआ
ा। वहाँ की शीतल-मन्द समीर चित्त को पुलकित कर देती थी। इसलिए
म उपासना के पश्चात् भी वहाँ घंटों वायु-सेवन करते रहते थे। श्रीधर बड़े
द्वान्, वेदों के ज्ञाता, शास्त्रों के जाननेवाले थे। कृष्ण पर उनकी भी अविरल
क्ति थी। समस्त काश्मीर में उनके पांडित्य की चर्चा थी। वह बड़े संयमी,
तोषी, आत्मज्ञानी पुरुष थे। उनके नेत्रों से शान्ति की ज्योति-रेखाएँ निकलती
ुई मालूम होती थीं। सदैव परोपकार में मग्न रहते। उनकी वाणी ने कभी
िसी का हृदय नहीं दुखाया; उनका हृदय नित्य पर-वेदना से पीड़ित रहता
ा।

पंडित श्रीधर मेरे पतिदेव से लगभग दस वर्ष बड़े थे, पर उनकी धर्मपत्नी
िद्याधरी मेरी ही उम्र की थी। हम दोनों सहेलियाँ थीं। विद्याधरी अत्यन्त
म्भीर, शान्त प्रकृति की स्त्री थी। अपने रंग-रूप का उसे ज़रा भी घमण्ड न
ा, अपने पति को देवतुल्य समझती थी।

श्रावण का महीना था। आकाश पर काले-काले बादल मँडला रहे थे,
ानो काजल के पर्वत उड़े जा रहे हों। झरनों से दूध की धारें निकल रही
ीं, और चारों ओर हरियाली छायी हुई थी। नन्हीं-नन्हीं फुहारें पड़ रही थीं,

मानो स्वर्ग से अमृत की बूँदें टपक रही हों। जल की बूँदें फूलों और पत्तियों के गले में चमक रही थीं। चित्त की अभिलाषाओं को उभारनेवाला समा छाया हुआ था। यह वह समय है, जब रमणियों को विदेशगामी प्रियतम की याद रुलाने लगती है, जब विरहा की पीड़ा असह्य हो जाती है। इसी ऋतु में माली की कन्य धानी साड़ी पहनकर, क्यारियों में इठलाती हुई, चम्पा और बेले के फूलों से आँचल भरती है, क्योंकि हार-गजरों की माँग बहुत बढ़ जाती है। मैं और विद्याधरी ऊपर छत पर बैठी वर्षा ऋतु की बहार देख रही थीं, और कालिदास का ऋतुसंहार पढ़ती थीं। इतने में मेरे पति ने आकर कहा—आज बड़ा सुहावना दिन है। झूला झूलने में बड़ा आनन्द आयेगा। सावन में झूला झूलने का प्रस्ताव क्योंकर रद्द किया जा सकता था। इन दिनों रमणी का चित्त आप-ही-आप झूला झूलने के लिए विकल हो जाता है। जब वन के वृक्ष झूला झूलते हों, जल की तरंगें झूला झूलती हों, और गगन-मंडल के मेघ झूला झूलते हों, जब सारी प्राकृति आन्दोलित हो रही हो, तो रमणी का कोमल हृदय क्यों न चंचल हो जाय! विद्याधरी भी राजी हो गयी। रेशम की डोरियाँ कदम की डाल पर पड़ गयीं, चन्दन का पटरा रख दिया गया, और मैं विद्याधरी के साथ झूला झूलने चली। जिस प्रकार ज्ञान रसरोवर पवित्र जल से परिपूर्ण हो रहा है, उसी भाँति हमारे हृदय पवित्र आनन्द से परिपूर्ण थे। किन्तु शोक! वह कदाचित् मेरे सौभाग्य-चन्द्र की अन्तिम झलक थी। मैं झूले के पास पहुँचकर पटरे पर जा बैठी, किन्तु कोमलांगी विद्याधरी ऊपर न आ सकी। वह कई बार उचकी, परन्तु नीचे ही रह गयी। तब मेरे पतिदेव ने सहारा देने के लिए उसकी बाँह पकड़ ली। उस समय उसके नेत्रों में एक विचित्र तृष्णा की झलक थी, और मुख पर एक विचित्र आतुरता। वह धीमे स्वरों में मल्हार गा रहे थे। किन्तु विद्याधरी जब पटरे पर आयी, उसका मुख डूबते हुए सूर्य की भाँति लाल और नेत्र अरुण वर्ण हो रहे थे। उसने मेरे पतिदेव की ओर क्रोधोन्मत्त होकर देखा, और बोली—तूने काम के वश होकर मेरे शरीर में हाथ लगाया है। मैं अपने पातिव्रत के बल से तुझे शाप देती हूँ कि तू इसी क्षण पशु हो जा!

यह कहते ही विद्याधरी ने अपने गले से रुद्राक्ष की माला निकालकर मेरे

पतिदेव के ऊपर फेंक दी, और तत्क्षण ही पटरे के समीप मेरे पतिदेव के स्थान पर एक विशाल सिंह दिखायी दिया।

(२)

ऐ मुसाफिर ! अपने प्रिय पति देवता की यह गति देखकर मेरा रक्त सूख गया, और कलेजे पर बिजली-सी आ गिरी। मैं विद्याधरी के पैरों से लिपट गयी, और फूट-फूटकर रोने लगी। उस समय अपनी आँखों से देखकर अनुभव हुआ कि पातिव्रत की महिमा कितनी प्रबल है। ऐसी घटनाएँ मैंने पुराणों में पढ़ी थीं, पर मुझे विश्वास न था कि वर्तमान काल में, जब कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में स्वार्थ की मात्रा दिनों-दिन अधिक होती जाती है, पातिव्रत धर्म में यह प्रभाव होगा। मैं यह नहीं कह सकती कि विद्याधरी का सन्देह कहाँ तक ठीक था। मेरे पति विद्याधरी को सदैव बहन कहकर सम्बोधित करते थे। वह अत्यन्त स्वरूपवान् थे, और रूपवान् पुरुष की स्त्री का जीवन बहुत सुखमय नहीं होता, पर मुझे उन पर संशय करने का अवसर कभी नहीं मिला। वह स्त्री-व्रत-धर्म का वैसा ही पालन करते थे, जैसे सती अपने धर्म का। उनकी दृष्टि में कुचेष्टा न थी, और विचार अत्यन्त उज्ज्वल और पवित्र थे, यहाँ तक कि कालिदास की शृंगारमय कविता भी उन्हें प्रिय न थी। मगर काम के मर्मभेदी बाणों से कौन बचा है ! जिस काम ने शिव और ब्रह्मा-जैसे तपस्वियों की तपस्या भंग कर दी, जिस काम ने नारद विश्वामित्र-जैसे ऋषियों के माथे पर कलंक का टीका लगा दिया, वह काम सब कुछ कर सकता है। संभव है, सुरापान ने उद्दीपक ऋतु के साथ मिलकर उनके चित्त को विचलित कर दिया हो। मेरा गुमान तो यह है कि यह विद्याधरी की केवल भ्रान्ति थी। जो कुछ भी हो, उसने शाप दे दिया। उस समय मेरे मन में भी उत्तेजना हुई कि जिस शक्ति का विद्याधरी को गर्व है, क्या वह शक्ति मुझमें नहीं ? क्या मैं पतिव्रता नहीं हूँ ? किन्तु हा ! मैंने कितना ही चाहा कि शाप के शब्द मुँह से निकालूँ, पर मेरी जबान बन्द हो गयी। वह अखण्ड विश्वास जो विद्याधरी को अपने पातिव्रत पर था, मुझे न था। विवशता ने मेरे प्रतिकार के आवेग को शान्त कर दिया। मैंने बड़ी दीनता के साथ कहा—बहन, तुमने यह क्या किया ?

विद्याधरी ने निर्दय होकर कहा—मैंने कुछ नहीं किया, यह उसके कर्मों

का फल है।

मैं—तुम्हें छोड़कर और किसकी शरण जाऊँ, क्या तुम इतनी दया करोगी ?

विद्याधरी—मेरे किये अब कुछ नहीं हो सकता।

मैं—देवि, तुम पातिव्रतधारिणी हो, तुम्हारे वाक्य की महिमा अपार है तुम्हारा क्रोध यदि मनुष्य से पशु बना सकता है, तो क्या तुम्हारी दया पशु से मनुष्य न बना सकेगी ?

विद्याधरी—प्रायश्चित करो, इसके अतिरिक्त उद्धार का और कोई उपाय नहीं।

ऐ मुसाफिर, मैं राजपूत की कन्या हूँ। मैंने विद्याधरी से अधिक अनुनय विनय नहीं की। उसका हृदय दया का आगार था। यदि मैं उसके चरणों पर शीश रख देती, तो कदाचित् उसे मुझ पर दया आ जाती। किन्तु राजपूत कन्या इतना अपमान नहीं सह सकती। वह घृणा के घाव सह सकती है, क्रोध की अग्नि सह सकती है, पर दया का बोझ उससे नहीं उठाया जाता। मैंने पटरे से उतरकर पतिदेव के चरणों पर सिर झुकाया, और उन्हें साथ लिये हुए घर चली आयी।

(३)

कई महीने गुजर गये। मैं पतिदेव की सेवा-सुश्रूषा में तन-मन से व्यस्त रहती। यद्यपि उनकी जिह्वा वाणी-विहीन हो गयी थी, पर उनकी आकृति से स्पष्ट प्रकट होता था कि वह अपने कर्म से लज्जित थे। रूपान्तर हो जाने पर भी उन्हें मांस से अत्यन्त घृणा थी। मेरी पशुशाला में सैकड़ों गायें-भैंसें थीं, किन्तु शेरसिंह ने कभी किसी की ओर आँख उठाकर भी न देखा। मैं उन्हें दोनों बेला दूध पिलाती, और सन्ध्या समय उन्हें साथ लेकर पहाड़ियों की सैर कराती। मेरे मन में न जाने क्यों धैर्य और साहस का इतना संचार हो गया था कि मुझे अपनी दशा असह्य न जान पड़ती थी। मुझे निश्चय था कि शीघ्र ही इस विपत्ति का अन्त भी होगा।

इन्हीं दिनों हरिद्वार में गंगास्नान का मेला लगा। मेरे नगर के यात्रियों का एक समूह हरिद्वार चला। मैं भी उनके साथ हो ली। दीन-दुखी जनों को

दान देने के लिए रुपए और अशर्फ़ियों की थैलियाँ साथ ले लीं। मैं प्रायश्चित करने जा रही थी, इसी लिए पैदल ही यात्रा करने का निश्चय कर लिया। लगभग एक महीने में हरिद्वार जा पहुँची। यहाँ भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त से असंख्य यात्री आये हुए थे। संन्यासियों और तपस्वियों की संख्या गृहस्थों से कुछ ही कम होगी। धर्मशालाओं में रहने का स्थान न मिलता था। गंगा-तट पर, पर्वतों की गोद में, मैदानों के वक्षःस्थल पर, जहाँ देखिए, आदमी-ही-आदमी नजर आते थे। दूर से वे छोटे-छोटे खिलौने की भाँति दिखायी देते थे। मीलों तक आदमियों का फ़र्श-सा बिछा हुआ था। भजन और कीर्तन की ध्वनि नित्य कानों में आती रहती थी। हृदय में असीम श्रद्धा, गंगा की लहरों की भाँति, लहरें मारती थी। वहाँ का जल, वायु, आकाश शुद्ध था।

मुझे हरिद्वार आये तीन दिन व्यतीत हुए थे। प्रभात का समय था। मैं गंगा में खड़ी स्नान कर रही थी। सहसा मेरी दृष्टि ऊपर उठी, तो मैंने किसी आदमी को पुल के ऊपर से झाँकते देखा! अकस्मात् उस मनुष्य का पाँव ऊपर उठ गया, और वह सैकड़ों गज की ऊँचाई से गंगा में गिर पड़ा। सहस्रों आँखें यह दृश्य देख रही थीं, पर किसी को साहस न हुआ कि उस अभागे मनुष्य की जान बचाये। भारतवर्ष के अतिरिक्त ऐसा समवेदनाशून्य और कौन देश होगा! और, यह वह देश है, जहाँ परमार्थ मनुष्य का परम कर्त्तव्य बताया गया है। लोग बैठे हुए अपंगुओं की भाँति तमाशा देख रहे थे। सभी हत-बुद्धि-से हो रहे थे। धारा प्रबल वेग से बहती थी, और जल बर्फ से भी अधिक शीतल था। मैंने देखा कि वह गरीब धारा के साथ बहता चला जाता है। यह हृदय-विदारक दृश्य मुझसे न देखा गया। मैं तैरने में अभ्यस्त थी। मैंने ईश्वर का नाम लिया, और मन को दृढ़ करके धारा के साथ तैरने लगी। ज्यों-ज्यों मैं आगे बढ़ती थी, वह मनुष्य मुझसे दूर होता जाता था। यहाँ तक कि मेरे सारे अंग ठण्ड से शून्य हो गये।

मैंने कई बार चट्टानों को पकड़कर दम लिया, कई बार पत्थरों से टकरायी। मेरे हाथ ही न उठते थे। सारा शरीर बर्फ़ का ढाँचा-सा बना हुआ था। मेरे अंग ऐसे अशक्त हो गये थे कि मैं भी धारा के साथ बहने लगी, और मुझे विश्वास हो गया कि गंगा माता के उदर ही में मेरी जल-समाधि होगी। अक-

स्मात् मैंने उस पुरुष की लाश को एक चट्टान पर रुकते देखा। मेरा हौसल बँध गया। शरीर में एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव हुआ। मैं जोर लगाक प्राणपण से उस चट्टान पर जा पहुँची, और उसका हाथ पकड़कर खींचा। मे कलेजा धक् से हो गया। यह श्रीधर पंडित थे।

ऐ मुसाफ़िर, मैंने यह काम प्राणों को हथेली पर रखकर पूरा किया। जि समय मैं पंडित श्रीधर की अर्द्ध-मृत देह लिये तट पर आयी, तो सहस्रों मनुष्य की जय-ध्वनि से आकाश गूँज उठा। कितने ही मनुष्यों ने मेरे चरणों प सिर झुकाये। अभी लोग श्रीधर को होश में लाने के उपाय कर ही रहे थे वि विद्याधरी मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी। उसका मुख प्रभात के चन्द्र व भाँति कान्तिहीन हो रहा था, होठ सूखे, बाल बिखरे हुए, आँखों से आँसुअ की झड़ी लगी हुई। वह जोर से हाँफ रही थी, दौड़कर मेरे पैरों से चिम गयी, किन्तु दिल खोलकर नहीं, निर्मल भाव से नहीं। उसके मुँह से बात न निकलती थी। केवल इतना बोली—बहन, ईश्वर तुमको इस सत्कार्य का फल दें।

(४)

ऐ मुसाफिर, यह शुभ कामना विद्याधारी के अंतःस्तल से निकली थी। मैं उसके मुँह से यह आशीर्वाद सुनकर फूली न समायी। मुझे विश्वास हो गय कि अबकी बार जब मैं अपने मकान पर पहुँचूँगी, तो पतिदेव मुस्कराते हुए मुझसे गले मिलने के लिए द्वार पर आयेंगे। इस विचार से मेरे हृदय में गुद गुदी-सी होने लगी। मैं शीघ्र ही स्वदेश को चल पड़ी। उत्कंठा मेरे क़दम बढ़ाये जाती थी। मैं दिन भी चलती, रात भी चलती, मगर पैर थकना ही न जानते थे। यह आशा कि वह मोहिनी मूर्त्ति द्वार पर मेरा स्वागत करने के लिए खड़ी होगी, मेरे पैरों में पर-सा लगाये हुए थी। एक महीने की मंज़िल मैंने एक सप्ताह में तय की। पर शोक! जब मकान के पास पहुँची, तो उस घर को देखकर दिल बैठ गया, और हिम्मत न पड़ी कि अन्दर क़दम रखूँ। मैं चौखट पर बैठकर देर तक विलाप करती रही। न किसी नौकर का पता था, न कहीं पाले हुए पशु ही दिखायी देते थे। द्वार पर धूल उड़ रही थी। जान पड़ता था कि पक्षी घोंसले से उड़ गया है। कलेजे पर पत्थर की सिल

खकर भीतर गयी, तो क्या देखती हूँ कि मेरा प्यारा सिंह आँगन में मोटी-
ोटी जंजीरों से बँधा हुआ है। इतना दुर्बल हो गया है कि उसके कूल्हों की
ड्डियाँ दिखायी दे रही हैं! ऊपर-नीचे जिधर देखती थी, उजाड़-सा मालूम
ोता था। मुझे देखते ही शेरसिंह ने पूँछ हिलायी, और सहसा उनकी आँखें
ीपक की भाँति चमक उठीं। मैं दौड़कर उनके गले से लिपट गयी, समझ
यी कि नौकरों ने दग़ा की। घर की सामग्रियों का कहीं पता न था। सोने-
ाँदी के बहुमूल्य पात्र, फ़र्श आदि सब ग़ायब थे। हाय! हत्यारे मेरे आभू-
णों का सन्दूक भी उठा ले गये। इस अपहरण ने मुसीबत का प्याला भर
दिया। शायद पहले उन्होंने शेरसिंह को जकड़कर बाँध दिया होगा, फिर खूब
दिल खोलकर नोच-खसोट की होगी। कैसी विडम्बना थी, धर्म लूटने गयी
ी, और धन लुटा बैठी! दरिद्रता ने पहली बार अपना भयंकर रूप दिखाया।

ऐ मुसाफ़िर, इस प्रकार लुट जाने के बाद वह स्थान आँखों में काँटे की
रह खटकने लगा। यही वह स्थान था, जहाँ हमने आनन्द के दिन काटे थे।
न्हीं क्यारियों में हमने मृगों की भाँति कलोलें की थीं। प्रत्येक वस्तु से कोई-
-कोई स्मृति जाग्रत हो जाती थी। उन दिनों को याद करके आँखों से रक्त
 आँसू बहने लगते थे। वहाँ रहने का ठिकाना न देख मैंने अपनी जन्मभूमि
ो सदैव के लिए त्याग दिया। मेरी आँखों से आँसुओं की एक बूँद भी न
ारी। जिस जन्मभूमि की याद यावज्जीवन हृदय को व्यथित करती रहती है,
समे मैंने यों मुँह मोड़ लिया, मानो कोई बन्दी कारागार से मुक्त हो जाय।
क सप्ताह तक मैं चारों ओर भ्रमण करके अपने भावी निवासस्थान का निश्चय
रती रही। अन्त में सिन्धु नदी के किनारे एक निर्जन स्थान मुझे पसन्द
ाया। वहाँ एक प्राचीन मन्दिर था। शायद किसी समय में वहाँ देवताओं
ा वास था पर इस समय वह बिलकुल उजाड़ था। शनैः-शनैः मुझे उस
थान से प्रेम हो गया।

मुझे वहाँ रहते तीन वर्ष बीत चुके थे। वर्षा-ऋतु में एक दिन सन्ध्या
मय मुझे मन्दिर के सामने से एक पुरुष घोड़े पर सवार जाता दिखायी दिया।
न्दिर से प्रायः दो सौ गज की दूरी पर एक रमणीक सागर था। उसके किनारे
नार-वृक्षों के झुरमुट थे। वह सवार उस झुरमुट में जाकर अदृश्य हो गया।

अन्धकार बढ़ता जाता था। एक क्षण बाद मुझे उस ओर से किसी मनुष्य चीत्कार सुनायी दी, फिर बन्दूकों के शब्द कान में आये। उनकी ध्वनि पहाड़ गूँज उठा।

ऐ मुसाफिर, यह दृश्य देखकर मुझे किसी भीषण घटना का सन्देह हुआ मैं तुरन्त उठ खड़ी हुई। एक कटार हाथ में ली, और उस सागर की ओ चल दी।

अब मूसलाधार वर्षा होने लगी थी, मानो आज के बाद बादल फि कभी न बरसेंगे। रह-रहकर गर्जन की ऐसी भयंकर ध्वनि उठती थी, मा सारे पहाड़ आपस में टकरा गये हों। बिजली की चमक ऐसी तीव्र थी, मा संसार-व्यापी प्रकाश सिमटकर एकत्र हो गया हो। अन्धकार का यह हाल मानो सहस्रों अमावस्या की रातें गले मिल रही हों। मैं कमर तक पानी चलती, दिल को सँभाले हुए आगे बढ़ती जाती थी। अन्त में सागर के सम आ पहुँची। बिजली की चमक ने दीपक का काम किया। सागर के किन एक बड़ी-सी गुफा थी। इस समय उस गुफा में से प्रकाश-ज्योति बाहर आ हुई दिखायी देती थी। मैंने भीतर की ओर झाँका, तो क्या देखती हूँ कि ए बड़ा अलाव जल रहा है, उसके चारों ओर बहुत-से आदमी खड़े हुए हैं, अ एक स्त्री आग्नेय नेत्रों से घूर-घूरकर कह रही है—मैं अपने पति के साथ उ भी जलाकर भस्म कर दूँगी। मेरे कुतूहल की सीमा न रही। मैंने साँस ब कर ली, और हतबुद्धि की भाँति वह कौतुक देखने लगी। उसी स्त्री के सा एक रक्त से लिपटी हुई लाश पड़ी थी, और लाश के समीप ही एक मनु रस्सियों से बँधा हुआ सिर झुकाये बैठा था। मैंने अनुमान किया कि यह अश्वारोही पथिक है, जिस पर इन डाकुओं ने आघात किया था। यह डाकू सरदार का है; और यह स्त्री डाकू की पत्नी है। उसके सिर के ब बिखरे हुए थे, और आँखों से अंगारे निकल रहे थे। हमारे चित्रकारों ने क्र को पुरुष कल्पित किया है। मेरे विचार में स्त्री का क्रोध इससे कहीं घात कहीं विध्वंसकारी होता है। क्रोधोन्मत्त होकर वह कामलांगी सुन्दरी ज्वा शिखर बन जाती है।

उसी स्त्री ने फिर दाँत पीसकर कहा—मैं अपने पति के साथ इसे भी ज

कर भस्म कर दूँगी। यह कहकर उसने उस रस्सियों से बँधे हुए पुरुष को घसीटा, और दहकती हुई चिता में डाल दिया। आह! कितना भयंकर, कितना रोमांचकारी दृश्य था! स्त्री ही अपने द्वेष की अग्नि शान्त करने में इतनी पिशाचिनी हो सकती है! मेरा रक्त खौलने लगा। अब एक क्षण भी विलम्ब करने का अवसर न था। मैंने कटार खींच ली, और गुफा में घुस पड़ी। डाकू चौंककर तितर-बितर हो गये। समझे, मेरे साथ और लोग भी होंगे। मैं बेधड़क चिता में घुस गयी, और क्षण-मात्र में उस अभागे पुरुष को अग्नि के मुख से निकाल लायी। अभी केवल उसके वस्त्र ही जले थे। जैसे सर्प अपना शिकार छिन जाने से फुफकारता हुआ लपकता है, उसी प्रकार गरजती हुई लपटें मेरे पीछे दौड़ीं। ऐसा प्रतीत होता था कि अग्नि भी उसके रक्त की प्यासी हो रही थी।

इतने में डाकू सँभल गये, और आहत सरदार की पत्नी पिशाचिनी की भाँति मुँह खोले मुझ पर झपटी। समीप था कि वे हत्यारे मेरी बोटियाँ कर दें, इतने में गुफा के द्वार पर मेघ-गर्जन की-सी ध्वनि सुनायी दी, और शेरसिंह रौद्र रूप धारण किये हुए भीतर पहुँचे। उनका भयंकर रूप देखते ही डाकू अपनी-अपनी जान लेकर भागे। केवल डाकू सरदार की पत्नी स्तंभित-सी अपने स्थान पर खड़ी रही। एकाएक उसने अपने पति का शव उठाया, और उसे लेकर चिता में बैठ गयी। देखते-देखते उसकी भयंकर मूर्ति अग्नि-ज्वाला में विलीन हो गयी। अब मैंने उस बँधे हुए मनुष्य की ओर देखा, तो हृदय उछल पड़ा। यह पंडित श्रीधर थे। मुझे देखते ही उन्होंने सिर झुका लिया और रोने लगे। मैं उनके समाचार पूछ ही रही थी कि उसी गुफा के एक कोने से किसी के कराहने का शब्द सुनायी दिया। जाकर देखा, तो एक सुन्दर युवक रक्त से लथपथ पड़ा था। मैंने उसे देखते ही पहचान लिया। उसका पुरुषवेष उसे छिपा न सका। यह विद्याधरी थी। मर्दों के वस्त्र उस पर खूब सजते थे। वह लज्जा और ग्लानि की मूर्त्ति बनी हुई थी। वह मेरे पैरों पर गिर पड़ी, पर मुँह से कुछ न बोली।

उस गुफा में पल-भर भी ठहरना अत्यन्त शंकाप्रद था। न जाने कब डाकू फिर सशस्त्र होकर आ जायँ। उधर चिताग्नि भी शान्त होने लगी, और उस सती की भीषण काया अत्यन्त तेजमय रूप धारण करके हमारे नेत्रों के

सामने तांडव-क्रीड़ा करने लगी। मैं बड़ी चिन्ता में पड़ी कि इन दोनों प्राणि को कैसे वहाँ से निकालूँ। दोनों ही ज़ख्मों से चूर थे। शेरसिंह ने मेरे अ मंजस को ताड़ लिया। रूपान्तर हो जाने के बाद उनकी बुद्धि बड़ी तीव्र गयी थी। उन्होंने मुझे संकेत किया कि दोनों को हमारी पीठ पर बिठा दो पहले तो मैं उनका आशय न समझी, पर जब उन्होंने संकेत को बार-बार दु राया, तो मैं समझ गयी। गूँगों के घरवाले ही गूँगों की बातें खूब समझते है मैंने पंडित श्रीधर को गोद में उठाकर शेरसिंह की पीठ पर बिठा दिया। उन पीछे विद्याधरी को भी बिठाया। नन्हा बालक भालू की पीठ पर बैठकर जित डरता है, उससे कहीं ज्यादा ये दोनों प्राणी भयभीत हो रहे थे। चिताग्नि क्षीण प्रकाश में उनके भय-विकृत मुख देखकर करुण विनोद होता था। इन दोनों प्राणियों को साथ लेकर गुफा से निकली, और फिर उसी तिमि सागर को पार करके मन्दिर आ पहुँची।

मैंने एक सप्ताह तक उनकी यथाशक्ति सेवा-सत्कार की। जब वे भल भाँति स्वस्थ हो गये, तो मैंने उन्हें विदा किया। ये स्त्री-पुरुष कई आदमिय के साथ टेढ़ी जा रहे थे। वहाँ के राजा पंडित श्रीधर के शिष्य हैं। पंडि श्रीधर का घोड़ा आगे था। विद्याधरी सवारी का अभ्यास न होने के कारण पी थी। उनके दोनों रक्षक भी उसके साथ थे। जब डाकुओं ने पंडित श्रीधर क घेरा और पंडित ने पिस्तौल से डाकू सरदार को गिराया, तो कोलाहल सु कर विद्याधरी ने घोड़ा बढ़ाया। दोनों रक्षक तो जान लेकर भागे, विद्याध को डाकुओं ने पुरुष समझकर घायल कर दिया, और तब दोनों प्राणियों क बाँधकर गुफा में डाल दिया। शेष बातें मैंने अपनी आँखों देखीं। यद्यपि यह से बिदा होते समय विद्याधरी का रोम-रोम मुझे आशीर्वाद दे रहा था, प हा! अभी प्रायश्चित पूरा न हुआ था। इतना आत्मसमर्पण करके भी मैं सफल मनोरथ न हुई थी।

(५)

ऐ मुसाफ़िर, उस प्रान्त में अब मेरा रहना कठिन हो गया। डाकू बन्दू लिये हुए शेरसिंह की तलाश में घूमने लगे। विवश होकर एक दिन मैं वह से चल खड़ी हुई, और दुर्गम पर्वतों को पार करती हुई यहाँ आ निकली। य

स्थान मुझे ऐसा पसन्द आया कि मैंने इस गुफा को अपना घर बना लिया है। आज पूरे तीन वर्ष गुज़रे जब मैंने पहले-पहल ज्ञान सरोवर के दर्शन किये। उस समय भी यही ऋतु थी। मैं ज्ञानसागर में पानी भरने गयी थी। सहसा क्या देखती हूँ कि एक युवक मुश्की घोड़े पर सवार रत्नजड़ित आभूषण पहने, हाथ में चमकता हुआ भाला लिये चला आता है। शेरसिंह को देखकर वह ठिठका और भाला सँभालकर उनपर वार कर बैठा। तब शेरसिंह को भी क्रोध आया। उनकी गरज की ऐसी गगन-भेदी ध्वनि उठी कि ज्ञानसागर का जल आन्दोलित हो गया। उन्होंने उसे तुरन्त घोड़े से खींचकर उसकी छाती पर पंजे रख दिये। मैं घड़ा छोड़कर दौड़ी। युवक का प्राणान्त होनेवाला ही था कि मैंने शेरसिंह के गले में हाथ डाल दिये और उनका सिर सहलाकर क्रोध शान्त किया। मैंने उनका ऐसा भयंकर रूप कभी न देखा था। मुझे स्वयं उनके पास जाते हुए डर लगता था, पर मेरे मृदु वचनों ने अन्त में उन्हें वशीभूत कर लिया। वह अलग खड़े हो गये। युवक की छाती में गहरा घाव था। उसे मैंने इसी गुफा में लाकर रखा और उसकी मरहम-पट्टी करने लगी।

एक दिन मैं कुछ आवश्यक वस्तुएँ लेने के लिए उस क़स्बे में गयी, जिसके मन्दिर के कलश यहाँ से दिखायी दे रहे हैं। मगर वहाँ सब दूकानें बन्द थीं। बाज़ारों में खाक उड़ रही थी। चारों ओर सियापा-सा छाया हुआ था। मैं बहुत देर तक इधर-उधर घूमती रही, किसी मनुष्य की सूरत भी न दिखायी दी कि उससे वहाँ का सब समाचार पूछूँ। ऐसा विदित होता था, मानो यह अदृश्य जीवों की बस्ती है। सोच ही रही थी कि वापस चलूँ कि घोड़ों के टापों की ध्वनि कानों में आयी, और एक क्षण में एक स्त्री, सिर से पैर तक काले वस्त्र धारण किये, एक काले घोड़े पर सवार आती हुई दिखायी दी। उसके पीछे कई सवार और प्यादे काली वर्दियाँ पहने आ रहे थे। अकस्मात् उस सवार स्त्री की दृष्टि मुझपर पड़ी। उसने घोड़े को एक एड़ लगायी, और मेरे निकट आकर कर्कश स्वर में बोली—तू कौन है?

मैंने निर्भीक भाव से उत्तर किया—मैं ज्ञानसरोवर के तट पर रहती हूँ। यहाँ बाज़ार में कुछ सामग्रियाँ लेने आयी थी, किन्तु शहर में किसी का पता नहीं। उस स्त्री ने पीछे की ओर देखकर कुछ संकेत किया, जिस पर दो सवारों

ने आगे बढ़कर मुझे पकड़ लिया, और मेरी बाहों में रस्सियाँ डाल दीं। मेरी समझ में न आता था कि मुझे किस अपराध का दंड दिया जा रहा है। बहुत पूछने पर भी किसी ने मेरे प्रश्नों का उत्तर न दिया। हाँ, अनुमान से यह प्रकट हुआ कि यह स्त्री यहाँ की रानी है। मुझे अपने विषय में तो कोई चिन्ता न थी, पर चिन्ता थी शेरसिंह की। वह अकेले घबरा रहे होंगे। भोजन का समय आ पहुँचा, कौन खिलायेगा? किस विपत्ति में आ फँसी! नहीं मालूम विधाता अब मेरी क्या दुर्गति करेंगे! मुझ अभागिनी को इस दशा में भी शान्ति नहीं। इन्हीं मलिन विचारों में मग्न मैं सवारों के साथ आध घंटे तक चलती रही कि सामने एक ऊँची पहाड़ी पर एक विशाल भवन दिखायी दिया। ऊपर चढ़ने के लिए पत्थर काटकर चौड़े ज़ीने बनाये गये थे। हम लोग ऊपर चढ़े वहाँ सैकड़ों ही आदमी दिखायी दिये। किन्तु सब-के-सब काले वस्त्र धारण किये हुए थे। मैं जिस कमरे में लाकर रखी गयी, वहाँ एक कुशासन के अतिरिक्त सजावट का और कोई सामान न था। मैं जमीन पर बैठकर अपने नसीब को रोने लगी। जो कोई यहाँ आता था, मुझ पर करुण दृष्टिपात करके चुपचाप चला जाता था। थोड़ी देर में रानी साहबा आकर उसी कुशासन पर बैठ गयीं। यद्यपि उनकी अवस्था पचास वर्ष से अधिक थी, पर मुख पर अद्भुत कान्ति थी। मैंने अपने स्थान से उठकर उनका सम्मान किया, और हाथ बाँधकर अपनी किस्मत का फ़ैसला सुनने के लिए खड़ी हो गयी।

(६)

ऐ मुसाफिर, रानी महोदया की त्योरियाँ देखकर पहले तो मेरे प्राण सूख गये, किन्तु जिस प्रकार चन्दन-जैसी कठोर वस्तु में मनोहर सुगंध छिपी होती है, उसी प्रकार उनकी कर्कशता और कठोरता के नीचे मोम के सदृश्य हृदय छिपा था। उनका पुत्र थोड़े ही दिन पहले युवावस्था ही में दग़ा दे गया था। उसी के शोक में सारा शहर मातम मना रहा था। मेरे पकड़े जाने का कारण यह था कि मैंने काले वस्त्र क्यों न धारण किये थे। वह वृत्तान्त सुनकर मैं समझ गयी कि जिस राजकुमार का शोक मनाया जा रहा है, वह वही युवक है, जो मेरी गुफा में पड़ा हुआ है। मैंने उनसे पूछा—राजकुमार मुश्की घोड़े पर तो सवार नहीं थे?

रानी—हाँ-हाँ, मुश्की घोड़ा था। उसे मैंने उनके लिए अरबदेश से मँगवा दिया था। क्या तूने उन्हें देखा है ?

मैं—हाँ, देखा है।

रानी ने पूछा—कब ?

मैं—जिस दिन वह शेर का शिकार खेलने गये थे।

रानी—क्या तेरे सामने ही शेर ने उनपर चोट की थी ?

मैं—हाँ, मेरी आँखों के सामने।

रानी उत्सुक होकर खड़ी हो गयी, और बड़े दीन-भाव से बोली—तू उनकी लाश का पता लगा सकती है ?

मैं—ऐसा न कहिए, वह अमर हों। वह दो सप्ताहों से मेरे यहाँ मेहमान हैं।

रानी हर्षमय आश्चर्य से बोलीं—मेरा रणधीर जीवित है ?

मैं—हाँ, अब उनमें चलने-फिरने की शक्ति आ गयी है।

रानी मेरे पैरों पर गिर पड़ीं !

तीसरे दिन अर्जुननगर की कुछ और ही शोभा थी। वायु आनन्द के मधुर स्वर से गूँजती थी, दूकानों ने फूलों का हार पहना था, बाज़ारों में आनन्द के उत्सव मनाये जा रहे थे। शोक के नीले वस्त्रों की जगह केशर का सुहावना रंग बधायी दे रहा था। इधर सूर्य ने ऊषा-सागर से सिर निकाला, उधर सलामियाँ दगनी आरम्भ हुईं। आगे आगे मैं एक सब्ज घोड़े पर सवार आ रही थी, और पीछे राजकुमार का हाथी, सुनहरे झूलों से सजा चला आता था। स्त्रियाँ अटारियों पर मंगल गीत गाती और पुष्पों की वृष्टि करती थीं। राजभवन के द्वार पर रानी मोतियों से आँचल भरे खड़ी थीं। ज्योंही राजकुमार हाथी से उतरे, वह उन्हें गोद में लेने के लिए दौड़ीं, और उन्हें छाती से लगा लिया।

(७)

ऐ मुसाफ़िर, आनन्दोत्सव समाप्त होने पर जब मैं बिदा होने लगी, तो रानी महोदया ने सजल-नयन होकर कहा—बेटी, तूने मेरे साथ जो उपकार किया है, उसका फल तुझे भगवान् देंगे। तूने मेरे राजवंश का उद्धार कर दिया, नहीं

तो कोई पितरों को जल देनेवाला भी न रहता। मैं तुझे कुछ बिदाई देन चाहती हूँ, वह तुझे स्वीकार करनी पड़ेगी। अगर रणधीर मेरा पुत्र है; तो त मेरी पुत्री है। तूने ही रणधीर को प्राण-दान दिया है, तूने ही इस राज्य क पुनरुद्धार किया है। इसलिए इस माया-बन्धन से तेरा गला नहीं छूटेगा। मैं अर्जुननगर का प्रान्त उपहार-स्वरूप तेरी भेंट करती हूँ।

रानी की यह असीम उदारता देखकर मैं दंग रह गयी। कलियुग में भी कोई ऐसा दानी हो सकता है, इसकी मुझे आशा न थी। यद्यपि मुझे धन भोग की लालसा न थी, पर केवल इस विचार से कि कदाचित् यह सम्पत्ति मुझे अपने भाइयों की सेवा करने की सामर्थ्य दे, मैंने एक जागीरदार की ज़िम्मेदारियाँ अपने सिर लीं। तब से दो वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, पर भोग-विलास ने मेरे मन को एक क्षण के लिए भी चंचल नहीं किया। मैं कभी पलंग पर नहीं सोयी। रूखी-सूखी वस्तुओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं खाया। पति वियोग की दशा में स्त्री तपस्विनी हो जाती है, उसकी वासनाओं का अन्त हो जाता है। मेरे पास कई विशाल भवन हैं, कई रमणीक वाटिकाएँ हैं, विषय वासना की ऐसी कोई सामग्री नहीं, जा प्रचुर मात्रा में उपस्थित न हो, पर मेरे लिए वे सब त्याज्य हैं। भवन सूने पड़े हैं, और वाटिकाओं में खोजने से भी हरियाली न मिलेगी। मैंने उनकी ओर कभी आँख उठाकर भी नहीं देखा अपने प्राणधार के चरणों से लगे हुए मुझे अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं मैं नित्यप्रति अर्जुननगर जाती हूँ, और रियासत के आवश्यक काम-काज करके लौट आती हूँ। नौकर-चाकरों को कड़ी आज्ञा दे दी गयी है कि मेरी शान्ति मे बाधक न हों। रियासत की सम्पूर्ण आय परोपकार में व्यय होती है। मैं उसकी कौड़ी भी अपने खर्च में नहीं लाती। आपको अवकाश हो, तो आप मेरी रियासत का प्रबन्ध देखकर बहुत प्रसन्न होंगे। मैंने इन दो वर्षों में बीस बड़े बड़े तालाब और चालीस गोशाले बनवा दिये हैं। मेरा विचार है कि अपनी रियासत में नहरों का ऐसा जाल बिछा दूँ, जैसे शरीर में नाड़ियों का है। मैंने एक सौ कुशल वैद्य नियुक्त कर दिये हैं, जो ग्रामों में विचरण करके रोग की निवृत्ति करें। मेरा कोई ऐसा ग्राम नहीं, जहाँ मेरी ओर से सफ़ाई का प्रबन्ध न हो। छोटे-छोटे गाँवों में भी आपको लालटेनें जलती हुई मिलेंगी। दिन

का प्रकाश ईश्वर देता है, रात के प्रकाश की व्यवस्था करना राजा का कर्त्तव्य है। मैंने सारा प्रबन्ध पंडित श्रीधर के हाथों में दे दिया है। सबसे प्रथम कार्य जो मैंने किया, उन्हें ढूँढ़ निकालना और यह भार उनके सिर रख देना था; इस विचार से नहीं कि उनका सम्मान करना मेरा अभीष्ट था, बल्कि मेरी दृष्टि में कोई अन्य पुरुष ऐसा कर्त्तव्य-परायण, ऐसा निःस्पृह और ऐसा सच्चरित्र न था। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह यावज्जीवन रियासत की बागडोर अपने हाथ में रखेंगे। विद्याधरी भी उनके साथ है, वही शान्ति और सन्तोष की मूर्ति, वही धर्म और व्रत की देवी। उसका पातिव्रत अब भी ज्ञानसरोवर की भाँति अपार और अथाह है। यद्यपि उसका सौन्दर्य-सूर्य अब मध्याह्न पर नहीं, पर अब भी वह रनिवास की रानी जान पड़ती है। चिन्ताओं ने उसके मुख पर शिकन डाल दिये हैं। हम दोनों कभी-कभी मिल जाती हैं, किन्तु बातचीत की नौबत नहीं आती। उसकी आँखें झुक जाती हैं। मुझे देखते ही उसके ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है, और उसके माथे पर जलबिन्दु दिखायी देने लगते हैं। मैं आपसे सत्य कहती हूँ कि मुझे विद्याधरी से कोई शिकायत नहीं। उसके प्रति मेरे मन में दिनोंदिन श्रद्धा और बढ़ती जाती है। उसे देखती हूँ, तो मुझे प्रबल उत्कण्ठा होती है कि उसके पैरों पर गिर पड़ूँ। पतिव्रता स्त्री के दर्शन बड़े सौभाग्य से मिलते हैं, पर केवल इस भय से कि कदाचित् वह इसे खुशामद समझे, रुक जाती हूँ। अब मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि अपने स्वामी के चरणों में पड़ी रहूँ, और जब इस संसार से प्रस्थान करने का समय आये तो मेरा मस्तक उनके चरणों पर हो, और अन्तिम शब्द, जो मेरे मुँह से निकलें, ये ही हों कि—ईश्वर, दूसरे जन्म में भी मुझे इनकी चेरी बनाना।

पाठक, उस सुन्दरी का जीवन-वृत्तान्त सुनकर मुझे जितना कुतूहल हुआ, वह अकथनीय है। खेद है, जिस जाति से ऐसी प्रतिभाशालिनी देवियाँ उत्पन्न हों, उस पर पाश्चात्य के कल्पनाहीन, विश्वासहीन पुरुष उँगलियाँ उठायें! समस्त योरप में एक भी ऐसी सुन्दरी न होगी, जिससे इसकी तुलना की जा सके। हमने स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध को सांसारिक सम्बन्ध समझ रखा है। उसका आध्यात्मिक रूप हमारे विचार से कोसों दूर है। यही कारण है कि हमारे देश में शताब्दियों की उन्नति के पश्चात् भी पातिव्रत का ऐसा उज्ज्वल और अलौ-

किक उदाहरण नहीं मिल सकता। दुर्भाग्य से हमारी सभ्यता ने ऐसा मार्ग ग्रहण किया है कि कदाचित् दूर भविष्य में भी ऐसी देवियों के जन्म लेने की संभावना नहीं। जर्मनी को यदि अपनी सेना पर, फ्रांस को अपनी विलासिता पर और इँगलैंड को अपने वाणिज्य पर गर्व है, तो भारतवर्ष को अपने पातिव्रत का घमण्ड है। क्या योरप-निवासियों के लिए यह लज्जा की बात नहीं कि होमर और वर्जिल, दान्ते और गेटे, शेक्सपियर और ह्यूगो-जैसे उच्च कोटि के कवि एक भी सीता या सावित्री की रचना न कर सकें। वास्तव में योरपीय समाज ऐसे आदर्शों से वंचित है!

मैंने दूसरे दिन ज्ञानसरोवर से बड़ी अनिच्छा के साथ विदा माँगी, और योरप को चला। मेरे लौटने का समाचार पहले ही प्रकाशित हो चुका था। जब मेरा जहाज़ हैंपबर्ग के बन्दर में पहुँचा तो सहस्रों नर-नारी मेरा अभिवादन करने के लिए खड़े थे। मुझे देखते ही तालियाँ बजने लगीं, रूमाल और टोप हवा में उछलने लगे, और वहाँ से मेरे घर तक जिस समारोह से मेरा जलूस निकला, उसपर किसी राष्ट्रपति को भी गर्व हो सकता है। सन्ध्या-समय मुझे कैसर की मेज़ पर भोजन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कई दिनों तक अभिनन्दन-पत्रों का ताँता लगा रहा, और महीनों क्लब और युनिवर्सिटी की फ़र्माइशों से दम भरने का अवकाश न मिला। मेरा यात्रा-वृत्तान्त देश के प्रायः सभी पत्रों में छपा। अन्य देशों से भी बधाई के तार और पत्र मिले। फ्रांस, रूस आदि देशों की कितनी ही सभाओं ने मुझे व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया। एक-एक वक्तृता के लिए मुझे कई-कई हज़ार पौंड दिये जाते थे। कई विद्यालयों ने मुझे कई उपाधियाँ दीं। ज़ार ने अपना आटोग्राफ भेजकर सम्मानित किया, किन्तु इन आदर और सम्मान की आँधियों से मेरे चित्त को शान्ति न मिलती थी, और ज्ञानसागर का सुरम्य तट, वह गहरी गुफा और वह मृदुभाषिणी रमणी सदैव आँखों के सामने फिरते रहते थे। रमणी के मधुर शब्द कानों में गूँजा करते। मैं थिएटरों में जाता, और स्पेन और जार्जिया की सुन्दरियों को देखता, किन्तु हिमालय की अप्सरा मेरे ध्यान से न उतरती। कभी-कभी कल्पना में मुझे वह देवी आकाश से उतरती हुई मालूम होती। तब चित्त चंचल हो जाता, और विकल उत्कण्ठा होती कि किसी तरह

पर लगाकर ज्ञानसागर के तट पर पहुँच जाऊँ। आखिर एक रोज़ मैंने सफर का सामान दुरुस्त किया और उस मिती से ठीक एक हज़ार दिनों के बाद, जब मैंने पहली बार ज्ञानसागर के तट पर कदम रक्खा था, मैं फिर वहाँ जा पहुँचा।

प्रभात का समय था। गिरिराज सुनहरा मुकुट पहने खड़े थे। मन्द समीर के आनन्दमय झोंकों से ज्ञानसागर का जल निर्मल प्रकाश से प्रतिबिम्बित होकर ऐसा लहरा रहा था, मानों अगणित अप्सराएँ, आभूषणों से जगमगाती हुई नृत्य कर रही हों। लहरों के साथ शतदल यों झकोरे लेते थे, जैसे कोई बालक हिंडोले में झूल रहा हो। फूलों के बीच में श्वेत हंस तैरते हुए ऐसे मालूम होते थे, मानो लालिमा से छाये हुए आकाश पर तारागण चमक रहे हों। मैंने उत्सुक नेत्रों से उस गुफा की ओर देखा, तो वहाँ एक विशाल राज-प्रासाद आसमान से कंधा मिलाये खड़ा था। एक ओर रमणीक उपवन था, दूसरी ओर एक गगनचुम्बी मन्दिर। मुझे यह कायापलट देखकर आश्चर्य हुआ। मुख्य द्वार पर जाकर देखा, तो दो चोबदार ऊदे मखमल की वर्दियाँ पहने, ज़री की पट्टी बाँधे खड़े थे। मैंने उनसे पूछा—क्यों भाई, यह किसका महल है?

चोबदार—अर्जुननगर की महारानी का।

मैं—क्या अभी हाल ही में बना है?

चोबदार—हाँ, तुम कौन हो?

मैं—एक परदेशी यात्री हूँ। क्या तुम महारानी को मेरी सूचना दे दोगे?

चोबदार—तुम्हारा क्या नाम है, और कहाँ से आते हो?

मैं—उनसे केवल इतना कह देना कि योरोप से एक यात्री आया है, और आपके दर्शन करना चाहता है।

चोबदार भीतर चला गया, और एक क्षण के बाद आकर बोला—मेरे साथ आओ।

मैं उसके साथ हो लिया। पहले एक लम्बी दालान मिली, जिसमें भाँति-भाँति के पक्षी पिंजरों में बैठे चहक रहे। इसके बाद विस्तृत बारहदरी में पहुँचा, जो सम्पूर्णतः पाषाण की बनी हुई थी। मैंने ऐसी सुन्दर गुलकारी

ताजमहल के अतिरिक्त और कहीं नहीं देखीं। फ़र्श की पच्चीकारी को देखकर उस पर पाँव धरते संकोच होता था। दीवारों पर निपुण चित्रकारों की रचनाएँ शोभायमान थीं। बारहदरी के दूसरे सिरे पर एक चबूतरा था, जिस पर मोटी क़ालीनें बिछी हुई थीं। मैं फ़र्श पर बैठ गया। इतने में एक लम्बे कद का रूपवान् पुरुष अन्दर आता हुआ दिखायी दिया। उसके मुख पर प्रतिभा की ज्योति झलक रही थी, और आँखों से गर्व टपका पड़ता था। उसकी काली और भाले की नोक के सदृश तनी हुई मूँछें, उसके भौंरे की तरह काले घुँघराले बाल उसकी आकृति की कठोरता को नम्र कर देते थे। विनय-पूर्ण वीरता का इससे सुन्दर चित्र नहीं खिंच सकता था। उसने मेरी ओर देखकर मुस्कराते हुए कहा—आप मुझे पहचानते हैं ?

मैं अदब से खड़ा होकर बोला, मुझे आपसे परिचय का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ।

वह क़ालीन पर बैठ गया, और बोला—मैं शेरसिंह हूँ।

मैं अवाक् रह गया। शेरसिंह ने फिर कहा—क्या आप प्रसन्न नहीं हैं कि आपने मुझे पिस्तौल का लक्ष्य नहीं बनाया। मैं तब पशु था, अब मनुष्य हूँ।

मैंने विस्मित होकर कहा—आपको इस रूप में देखकर मुझे जितना आनन्द हो रहा है, प्रकट नहीं कर सकता। यदि आज्ञा हो तो आपसे एक प्रश्न करूँ।

शेरसिंह ने मुस्कराकर कहा—मैं समझ गया, पूछिए।

मैं—जब आप समझ ही गये, तो पूछूँ क्यों ?

शेरसिंह—संभव है, मेरा अनुमान ठीक न हो।

मैं—मुझे भय है कि उस प्रश्न से आपको दुःख न हो।

शेरसिंह—कम-से-कम आपको मुझसे ऐसी शंका न करनी चाहिए।

मैं—विद्याधरी के भ्रम में कुछ सार था ?

शेरसिंह ने सिर झुकाकर कुछ देर में उत्तर दिया—जी हाँ, था। जिस वक्त मैंने उसकी कलाई पकड़ी थी, उस समय आवेश से मेरा एक-एक अंग काँप रहा था। मैंने क्या किया, यह तो याद नहीं, केवल इतना जानता हूँ कि मैं उस समय अपने होश में न था। मेरी पत्नी ने मेरे उद्धार के लिए बड़ी-

बड़ी तपस्याएँ कीं, किन्तु अभी तक मुझे अपनी ग्लानि से निवृत्ति नहीं हुई। संसार की कोई वस्तु स्थिर नहीं, किन्तु पाप की कालिमा अमर और अमिट है। यश और कीर्ति कालान्तर में मिट जाती है, किन्तु पाप का धब्बा नहीं मिटता। मेरा विचार है कि ईश्वर भी उस दाग़ को नहीं मिटा सकता। कोई तपस्या, कोई दण्ड, कोई प्रायश्चित इस कालिमा को नहीं धो सकता। पतितोद्धार की कथाएँ और तौबा या कान्फेशन करके पाप से मुक्त हो जाने की बात, ये सब संसार-लिप्सी पाखण्डी धर्मावलम्बियों की कल्पनाएँ हैं।

हम दोनों ये ही बातें कर रहे थे कि रानी प्रियंवदा सामने आकर खड़ी हो गयीं। मुझे आज वह अनुभव हुआ, जो बहुत दिनों से पुस्तकों में पढ़ा करता था कि सौन्दर्य में प्रकाश होता है। आज इसकी सत्यता मैंने अपनी आँखों देखी। मैंने जब उन्हें पहले देखा था, तो निश्चय किया था कि यह ईश्वरीय कला-नैपुण्य की पराकाष्ठा है, पर अब, जब मैंने उन्हें दुबारा देखा, तो ज्ञात हुआ कि वह इस असल की नक़ल थी। प्रियंवदा ने मुस्कराकर कहा—मुसाफ़िर, तुझे स्वदेश में भी कभी हम लोगों की याद आयी थी?

अगर मैं चित्रकार होता, तो उसके मधुर हास्य को चित्रित करके प्राचीन गुणियों को चकित कर देता। उसके मुँह से यह प्रश्न सुनने के लिए मैं तैयार न था। यदि उसके उत्तर में मन के आन्तरिक भावों को प्रकट कर देता, तो शायद मेरी धृष्टता होती, और शेरसिंह की त्योरियाँ बदल जातीं। मैं यह भी न कह सका कि मेरे जीवन का सबसे सुखद भाग वही था, जो ज्ञानसरोवर के तट पर व्यतीत हुआ था। किन्तु मुझे इतना साहस भी न हुआ। मैंने दबी ज़बान से कहा—क्या मैं मनुष्य नहीं हूँ?

(८)

तीन दिन बीत गये। इन दिनों में ख़ूब मालूम हो गया कि पूर्व को आतिथ्य-कुशल क्यों कहते हैं। योरोप का कोई दूसरा मनुष्य, जो यहाँ की सभ्यता से परिचित न हो, इन सत्कारों से ऊब जाता। किन्तु मुझे इन देशों के रहन-सहन का बहुत अनुभव हो चुका है, और मैं इसका आदर करता हूँ।

चौथे दिन मेरी विनय पर रानी प्रियंवदा ने अपनी शेष कथा सुनानी शुरू की—ऐ मुसाफ़िर, मैंने तुझसे कहा था कि अपनी रियासत का शासन-भार

मैंने श्रीधर पर रख दिया था, और जितनी योग्यता और दूरदर्शिता से उन्हों इस काम को सँभाला है, उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। ऐसा बहुत कम हुआ है कि एक विद्वान् पंडित, जिसका सारा जीवन पठन-पाठन में व्यतीत हुआ हो एक रियासत का बोझ सँभाले। किन्तु राजा बीरबल की भाँति पं० श्रीधर भ सब कुछ कर सकते हैं। मैंने परीक्षार्थ उन्हें यह काम सौंपा था। अनुभव सिद्ध कर दिया कि वह इस कार्य के सर्वथा योग्य हैं। ऐसा जान पड़ता है मानो कुल-परम्परा ने उन्हें इस काम में अभ्यस्त कर दिया है। जिस सम उन्होंने इसका काम अपने हाथ में लिया, यह रियासत एक ऊजड़ ग्राम के सदृश थी। अब वह धन-धान्य-पूर्ण एक नगर है। शासन का कोई ऐसा विभाग नहीं जिस पर उनकी सूक्ष्म दृष्टि न पहुँची हो।

थोड़े ही दिनों में लोग उनके शील-स्वभाव पर मुग्ध हो गये। राजा रण धीरसिंह भी उन पर कृपा-दृष्टि रखने लगे। पंडितजी पहले शहर से बाहर ए ठाकुरद्वारे में रहते थे, किन्तु जब राजा साहब से मेल-जोल बढ़ा, तो उन आग्रह से विवश होकर राजमहल में चले आये। यहाँ तक परस्पर मैत्री औ घनिष्टता बढ़ी कि मान-प्रतिष्ठा का विचार भी जाता रहा। राजा साहब पंडित जी से संस्कृत भी पढ़ते थे। उनके समय का अधिकांश पंडितजी के मका पर ही कटता था। किन्तु शोक! यह विद्या-प्रेम या शुद्ध मित्र-भाव का आक र्षण न था। यह सौन्दर्य का आकर्षण था। यदि यह घनिष्टता कुछ और ह पहलू लिये हुए होती तो उसका अन्त इतना खेदजनक न होता, जितना हुआ। उनकी दृष्टि विद्याधरी पर उस समय पड़ी, जब वह ठाकुरद्वारे में रहत थी। राजा साहब स्वभावतः बड़े ही सच्चरित्र और संयमी पुरुष हैं, किन्तु जि रूप ने मेरे पति-जैसे देव-पुरुष का ईमान डिगा दिया, वह सब कुछ कर सकत है।

भोलीभाली विद्याधरी मनोविकारों की इस कुटिल नीति से बे-खबर थी जिस प्रकार छलाँगें मारता हुआ हिरन व्याध की फैलायी हुई हरी-हरी घा देखकर उस ओर बढ़ता है, और यह नहीं समझता कि प्रत्येक पग मुझे सव नाश की ओर लिये जाता है, उसी भाँति विद्याधरी को उसका चंचल म अन्धकार की ओर खींचे लिये जाता था। वह राजा साहब के लिए अपने हा

से बीड़े लगाकर भेजती, पूजा के लिए चन्दन रगड़ती। रानीजी से भी उसका बहनापा हो गया। वह एक क्षण के लिए भी उसे अपने पास से न जाने देतीं। दोनों साथ-साथ बाग़ की सैर करतीं, साथ-साथ झूला झूलतीं, साथ-साथ चौपड़ खेलतीं। यह उनका शृंगार करती, और वह इसकी माँग-चोटी सँवारतीं, मानो विद्याधरी ने रानी के हृदय में वह स्थान प्राप्त कर लिया, जो किसी समय मुझे प्राप्त था। लेकिन वह ग़रीब क्या जानती थी कि जब मैं बाग़ की रविशों में विचरती हूँ, तो कुवासना मेरे तलवे के नीचे आँखें बिछाती है; जब मैं झूला झूलती हूँ, तो वह आड़ में बैठी हुई आनन्द से झूमती है। इस एक सरल-हृदय अबला स्त्री के लिए चारों ओर से चक्रव्यूह रचा जा रहा था।

इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। राजा साहब का रहत-ज़ब्त दिनोंदिन बढ़ता जाता था। पण्डितजी को उनसे वह स्नेह हो गया, जो गुरु को अपने एक होनहार शिष्य से होता है। मैंने जब देखा कि आठों पहर का यह सहवास पण्डितजी के काम में विघ्न डालता है, तो एक दिन मैंने उनसे कहा, यदि आपको कोई आपत्ति न हो, तो दूरस्थ देहातों का दौरा आरम्भ कर दें, और इस बात का पता लगायें कि देहातों में कृषकों के लिए बैंक खोलने में हमें प्रजा से कितनी सहानुभूति और कितनी सहायता की आशा करनी चाहिए। पंडित-जी के मन की बात नहीं जानती, पर प्रत्यक्ष उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। दूसरे ही दिन प्रातःकाल चले गये। किन्तु आश्चर्य है कि विद्याधरी उनके साथ न गयी। अब तक पण्डितजी जहाँ कहीं जाते थे, विद्याधरी परछाईं की भाँति उनके साथ रहती थी। पण्डितजी कितना ही समझायें, कितना ही डरायें वह उनका साथ न छोड़ती थी। पर अबकी बार कष्ट के विचार ने उसे कर्त्तव्य के मार्ग से विमुख कर दिया। पहले उसका पातिव्रत एक वृक्ष था, जो उसके प्रेम की क्यारी में अकेला खड़ा था, किन्तु अब उसी क्यारी में मैत्री की घास-पात निकल आयी थी, जिसका पोषण भी उसी भोजन पर अवलम्बित था।

(६)

ऐ मुसाफ़िर छः महीने गुज़र गये, और पण्डित श्रीधर वापस न आये। पहाड़ों की चोटियों पर छाया हुआ हिम घुल-घुलकर नदियों में बहने लगा, उनकी गोद में फिर रंग-बिरंग के फूल लहलहाने लगे, चन्द्रमा की किरणें फिर

फूलों की महक सूँघने लगीं, पर्वतों के पक्षी अपनी वार्षिक यात्रा समाप्तकर फि
स्वदेश आ पहुँचे, किन्तु पण्डितजी रियासत के कामों में ऐसे उलझे कि मे
निरन्तर आग्रह करने पर भी अर्जुननगर न आये। विद्याधरी की ओर से व
इतने उदासीन क्यों हुए, समझ में नहीं आता था। उन्हें तो उसका वियो
एक क्षण के लिए भी असह्य था। किन्तु इससे अधिक आश्चर्य की बात य
थी कि विद्याधरी ने भी आग्रह-पूर्ण पत्रों के लिखने के अतिरिक्त उनके पा
जाने का कष्ट न उठाया। वह अपने पत्रों में लिखती—स्वामीजी, मैं बहु
व्याकुल हूँ, यहाँ मेरा जी ज़रा भी नहीं लगता, एक-एक दिन एक-एक वर्ष
समान जाता है, न दिन को चैन है, न रात को नींद। क्या आप मुझे भू
गये? मुझसे कौन-सा अपराध हुआ? क्या आपको मुझपर दया भी नहीं आती
मैं आपके वियोग में रो-रोकर मरी जाती हूँ। नित्य स्वप्न देखती हूँ कि आ
आ रहे हैं, पर यह स्वप्न कभी सच्चा नहीं होता। उसके पत्र ऐसे ही प्रेमम
शब्दों से भरे होते थे, और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि जो कुछ वह लिखत
थी, वह भी अक्षरशः सत्य था। मगर इतनी व्याकुलता, इतनी चिन्ता औ
इतनी उद्विग्नता पर भी उसके मन में कभी यह प्रश्न न उठा कि क्यों न
ही उनके पास चली चलूँ।

बहुत ही सुहावनी ऋतु थी। ज्ञानसागर में यौवन-काल की अभिलाषाओं
की भाँति कमल के फूल खिले हुए थे। राजा रणधीरसिंह की पच्चीसवीं जयन्त
का शुभ मुहूर्त्त आया। सारे नगर में आनन्दोत्सव की तैयारियाँ होने लगीं
गृहिणियाँ कोरे-कोरे दीपक पानी में भिगोने लगीं कि अधिक तेल न सोख
जायँ। चैत की पूर्णिमा थी, किन्तु दीपक की जगमगाहट ने ज्योत्स्ना को मा
कर दिया था।

मैंने राजा साहब के लिए इस्फ़हान से एक रत्न-जड़ित तलवार मँगा रखी
थी। दरबार के अन्य जागीरदारों और अधिकारियों ने भी भाँति-भाँति के उप
हार मँगा रखे थे। मैंने विद्याधरी के घर जाकर देखा, तो वह एक पुष्प-हा
गूँथ रही थी। मैं आध घण्टे तक उसके सम्मुख खड़ी रही, किन्तु वह अपने
काम में इतनी व्यस्त थी कि उसे मेरी आहट भी न मिली। तब मैंने धीरे
पुकारा—'बहन!' विद्याधरी ने चौंककर सिर उठाया, और बड़ी शीघ्रता से व

हार फूल की डाली में छिपा, लज्जित होकर बोली—'क्या तुम देर से खड़ी हो?' मैंने उत्तर दिया—'आध घण्टे से अधिक हुआ।'

विद्याधरी के चेहरे का रँग उड़ गया, आँखें झुक गयीं, कुछ हिचकिचायी, कुछ घबरायी। फिर अपने अपराधी हृदय को इन शब्दों से शान्त किया—यह हार मैंने ठाकुरजी के लिए गूँथा है। उस समय विद्याधरी की घबराहट का भेद मैं कुछ न समझी। ठाकुरजी के लिए हार गूँथना क्या कोई लज्जा की बात है? पर जब वह हार मेरी नज़रों से छिपा दिया गया, तो उसका जिक्र ही क्या! हम दोनों ने कितनी ही बार साथ बैठकर हार गूँथे थे। कोई निपुण मालिन भी हमसे अच्छे हार न गूँथ सकती थी। मगर इसमें शर्म क्या! दूसरे दिन यह रहस्य मेरी समझ में आ गया। वह हार राजा रणधीरसिंह को उपहार में देने के लिए बनाया गया था।

यह बहुत सुन्दर वस्तु थी। विद्याधरी ने अपना सारा चातुर्य उसके बनाने में खर्च किया। कदाचित् यह सबसे उत्तम वस्तु थी, जो वह राजा साहब की भेंट कर सकती थी। वह ब्राह्मणी थी। राजा साहब की गुरुमाता थी। उसके हाथों से यह उपहार बहुत ही शोभा देता था, किन्तु यह बात उसने मुझसे छिपायी क्यों?

मुझे उस दिन रात-भर नींद न आयी। उसके इस रहस्य-भाव ने उसे मेरी नज़रों से गिरा दिया। एक बार आँख झपकी, तो मैंने उसे स्वप्न में देखा मानो वह एक सुन्दर पुष्प है, किन्तु उसकी बास निकल गयी है। वह मुझसे गले मिलने के लिए बढ़ी, किन्तु मैं हट गयी और बोली—तूने मुझसे वह बात छिपायी क्यों?

(१०)

ऐ मुसाफ़िर, राजा रणधीरसिंह की उदारता ने प्रजा को मालामाल कर दिया। रईसों और अमीरों ने खिलअतें पायीं। किसी को घोड़ा, किसी को जागीर मिली। मुझे उन्होंने श्रीभगवद्गीता की एक प्रति एक मखमली बस्ते में रख कर दी। विद्याधरी को एक बहुमूल्य जड़ाऊ कंगन मिला। उस कंगन में अनमोल हीरे जड़े हुए थे। देहली के निपुण स्वर्णकारों ने उसके बनाने में अपनी कला का चमत्कार दिखाया था। विद्याधरी को अब तक आभूषणों से

इतना प्रेम न था। अब तक सादगी ही उसका आभूषण और पवित्रता ही उसक श्रृंगार थी, पर इस कंगन पर वह लोट-पोट हो गयी।

आषाढ़ का महीना आया। घटाएँ गगन-मंडल में मँडलाने लगीं। पण्डि श्रीधर को घर की सुध आयी। पत्र लिखा कि मैं आ रहा हूँ। विद्याधरी मकान खूब साफ़ कराया, और स्वयं अपना बनाव-श्रृंगार किया। उसके वस से चन्दन की महक उड़ रही थी। उसने कंगन को सन्दूकचे से निकाला, औ सोचने लगी कि इसे पहनूँ या न पहनूँ? उसके मन ने निश्चय किया कि पहनना चाहिए। सन्दूक बन्द करके रख दिया।

सहसा लौंडी ने आकर सूचना दी कि पण्डितजी आ गये। यह सुनते विद्याधरी लपककर उठी, किन्तु पति के दर्शनों की उत्सुकता उसे द्वार की अं न ले गयी। उसने बड़ी फ़ुर्ती से सन्दूकचा खोला, कंगन निकालकर पहन और अपनी सूरत आइने में देखने लगी।

इधर पण्डितजी प्रेम की उत्कण्ठा से कदम बढ़ाते दालान से आँगन और आँगन से विद्याधरी के कमरे में आ पहुँचे। विद्याधरी ने आकर उन चरणों को अपने सिर से स्पर्श किया। पण्डितजी उसका यह श्रृङ्गार देख दंग रह गये। एकाएक उनकी दृष्टि उस कंगन पर पड़ी। राजा रणधीरसिं की संगति ने उन्हें रत्नों का पारखी बना दिया था। ध्यान से देखा तो ए एक नगीना एक-एक हजार का था। चकित होकर बोले—यह कंगन क मिला?

विद्याधरी ने जवाब पहले ही सोच रखा था। रानी प्रियंवदा ने दिया है यह जीवन में पहला अवसर था कि विद्याधरी ने अपने पतिदेव से कपट किया जब हृदय शुद्ध न हो, तो मुख से सत्य क्योंकर निकले। वह कंगन नहीं, ए विषैला नाग था।

(११)

एक सप्ताह गुजर गया। विद्याधरी के चित्त की शान्ति और प्रसन्नता लु हो गयी थी। ये शब्द कि 'रानी प्रियंवदा ने दिया है' प्रतिक्षण उसके का में गूँजा करते। वह अपने को धिक्कारती कि मैंने अपने प्राणधार से क्यों क किया। बहुधा रोया करती। एक दिन उसने सोचा कि क्यों न चलकर प

से सारा वृत्तान्त कह दूँ। क्या वह मुझे क्षमा न करेंगे ? यह सोचकर वह उठी, किन्तु पति के सम्मुख जाते ही उसकी जबान बन्द हो गयी। वह अपने कमरे में आयी, और फूट-फूटकर रोने लगी। कंगन पहनकर उसे बहुत आनन्द हुआ था। इसी कंगन ने उसे हँसाया था। अब वही रुला रहा था।

विद्याधरी ने रानी के साथ बागों में सैर करना छोड़ दिया। चौपड़ और शतरंज उसके नाम को रोया करते। वह सारे दिन अपने कमरे में पड़ी रोया करती, और सोचती कि क्या करूँ। सफेद वस्त्र पर कालिमा की एक बूँद भी झलकने लगती है। वह सोचती, इसी कंगन ने मेरा सुख हर लिया है, यही कंगन मुझे रक्त के आँसू रुला रहा है। सर्प जितना सुन्दर होता है, उतना ही विषाक्त भी होता है। वह सुन्दर कंगन विषधर नाग है, मैं उसका सिर कुचल डालूँगी। यह निश्चय करके उसने एक दिन अपने कमरे में कोयले का अलाव जलाया, चारों तरफ के किवाड़ बन्द कर दिये, और उस कंगन को जिसने उसके जीवन को संकटमय बना रखा था, सन्दूकचे से निकालकर आग में डाल दिया। एक दिन वह था कि यह कंगन उसे प्राणों से भी प्यारा था। उसे मखमली सन्दूकचे में रखती थी। आज उसे इतनी निर्दयता से आग में जला रही है!

विद्याधरी अलाव के सामने बैठी हुई थी कि इतने में पंडित श्रीधर ने द्वार खटखटाया। विद्याधरी को काटो, तो लहू नहीं। उसने उठकर द्वार खोल दिया और सिर झुकाकर खड़ी हो गयी। पंडितजी ने बड़े आश्चर्य से कमरे में निगाह दौड़ायी, पर रहस्य कुछ समझ में न आया। पूछा, किवाड़ बन्द करके क्या हो रहा है ? विद्याधरी ने उत्तर न दिया। तब पंडितजी ने छड़ी उठा ली, और अलाव को कुरेदा, तो कंगन निकल आया। उसका सम्पूर्णतः रूपान्तर हो गया था। न वह चमक थी, न वह रंग न वह आकार। घबराकर बोले—विद्याधरी, तुम्हारी बुद्धि कहाँ है ?

विद्याधरी—भ्रष्ट हो गयी है।

पंडितजी—इस कंगन ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ?

विद्याधरी—इसने मेरे हृदय में आग लगा रखी थी।

पंडितजी—ऐसी अमूल्य वस्तु मिट्टी में मिल गयी।

विद्याधरी—इसने उससे भी अमूल्य वस्तु का अपहरण किया है।

पंडितजी—तुम्हारा सिर तो नहीं फिर गया है?

विद्याधरी—शायद आपका अनुमान सत्य है।

पंडितजी ने विद्याधरी की ओर चुभनेवाली निगाहों से देखा। विद्याध की आँखें नीचे झुक गयीं। वह उनसे आँखें न मिला सकी। भय हुआ कि क यह तीव्र दृष्टि मेरे हृदय में चुभ न जाय। पंडितजी कठोर स्वर में बोले- विद्याधरी, तुम्हें स्पष्ट कहना होगा।

विद्याधरी से अब न रहा गया, वह रोने लगी, और पंडितजी के सम्मु धरती पर गिर पड़ी।

(१२)

विद्याधरी को जब सुध आयी, तो पंडितजी का वहाँ पता न था। घबरा हुई बाहर दीवानखाने में आयी; मगर यहाँ भी उन्हें न पाया। नौकरों से पूछ तो मालूम हुआ कि घोड़े पर सवार होकर ज्ञानसागर की ओर गये हैं। य सुनकर विद्याधरी को कुछ ढाढ़स हुआ। द्वार पर खड़ी होकर उनकी र देखती रही। दोपहर हुआ, सूर्य सिर पर आया; सन्ध्या हुई, चिड़ियाँ बसे लेने लगीं; फिर रात आयी, गगन में तारागण जगमगाने लगे; किन्तु विद्या धरी दीवार की भाँति खड़ी पति का इन्तजार करती रही। रात भीग गयी वन-जन्तुओं के भयानक शब्द कानों में आने लगे, सन्नाटा छा गया। सहस उसे घोड़े के टापों की ध्वनि सुनायी दी। उसका हृदय धड़कने लगा आनन्दोन्मत्त होकर द्वार के बाहर निकल आयी, किन्तु घोड़े पर सवार न था विद्याधरी को विश्वास हो गया कि अब पतिदेव के दर्शन न होंगे। या उन्होंने संन्यास ले लिया, या आत्मघात कर लिया। उसके कंठ से नैराश्य औ विषाद में डूबी हुई ठंडी साँस निकली। वहीं भूमि पर बैठ गयी, और सा रात खून के आँसू बहाती रही। जब उषा की निद्रा भंग हुई, और पक्षी आनन्द गान करने लगे, तब वह दुखिया उठी, और अन्दर जाकर लेट रही।

जिस प्रकार सूर्य की ताप जल को सोख लेता है, उसी भाँति शोक के ता ने विद्याधरी का रक्त जला दिया। मुख से ठंडी साँस निकलती थी, आँखों गर्म आँसू बहते थे। भोजन से अरुचि हो गयी और जीवन से घृणा। इ

अवस्था में एक दिन राजा रणधीरसिंह समवेदना-भाव से उसके पास आये। उन्हें देखते ही विद्याधरी की आँखें रक्तवर्ण हो गयीं, क्रोध से ओठ काँपने लगे, झल्लायी हुई नागिन की भाँति फुफकार उठी, और राजा के सम्मुख आकर कर्कश-स्वर में बोली—पापी, यह आग तेरी ही लगायी हुई है। यदि मुझमें अब भी कुछ सत्य है, तो तुझे इस दुष्टता के कड़ुए फल मिलेंगे। यह तीर के-से शब्द राजा के हृदय में चुभ गये। मुँह से एक शब्द भी न निकला। काल से न डरनेवाला राजपूत एक स्त्री की आग्नेय दृष्टि से काँप उठा।

(१६)

एक वर्ष बीत गया; हिमालय पर मनोहर हरियाली छायी, फूलों ने पर्वत की गोद में क्रीड़ा करनी शुरू की। यह ऋतु भी बीती। जल-थल ने बर्फ की सफेद चादर ओढ़ी, जल-पक्षियों की मालाएँ मैदानों की ओर उड़ती हुई दिखायी देने लगीं। यह मौसम भी गुजरा। नदी-नालों में दूध की धारें बहने लगीं, चन्द्रमा की स्वच्छ, निर्मल ज्योति ज्ञानसागर में थिरकने लगी। परन्तु पंडित श्रीधर की कुछ टोह न लगी।

विद्याधरी ने राजभवन त्याग दिया, और एक पुराने, निर्जन मन्दिर में तपस्विनी की भाँति दिन काटने लगी। उस दुखिया की दशा कितनी करुणा-जनक थी, उसे देखकर मेरी आँखें भर आती थीं। वह मेरी प्यारी सखी थी। उसकी संगति में मेरे जीवन के कई वर्ष आनन्द से व्यतीत हुए थे। उसका यह अपार दुःख देखकर मैं अपना दुःख भूल गयी। एक दिन वह था कि उसने अपने पातिव्रत के बल पर मनुष्य को पशु के रूप में परिणत कर दिया था, और आज यह दिन है कि उसका पति भी उसे त्याग रहा है। किसी स्त्री के हृदय पर इससे अधिक लज्जाजनक, इससे अधिक प्राणघातक आघात नहीं लग सकता। उसकी तपस्या ने मेरे हृदय में उसे फिर उसी सम्मान-पद पर बिठा दिया। उसके सतीत्व पर फिर मेरी श्रद्धा हो गयी। किन्तु उससे कुछ पूछते या सान्त्वना देते मुझे संकोच होता था। मैं डरती थी, कहीं विद्याधरी यह न समझे कि मैं उससे बदला ले रही हूँ। कई महीनों के बाद, जब विद्याधरी ने अपने हृदय का बोझ हलका करने के लिए स्वयं मुझसे यह वृत्तान्त कहा, तो मुझे ज्ञात हुआ कि यह सब काँटे राजा रणधीरसिंह के बोये हुए थे। उन्हीं की

प्रेरणा से रानीजी ने उसे पंडितजी के साथ जाने से रोका। उसके स्वभाव ने जो कुछ रंग बदला, रानीजी ही की कुसंगति का फल था। उन्हीं की देखा देखी उसे बनाव-शृंगार की चाट पड़ी, उन्हीं के मना करने से उसने कंगन का भेद पंडितजी से छिपाया। ऐसी घटनाएँ स्त्रियों में नित्य होती रहती हैं, और उन्हें ज़रा भी शंका नहीं होती। विद्याधरी का पातिव्रत आदर्श था। इसलिए यह वंचकता उसके हृदय में चुभने लगी। मैं यह नहीं कहती कि विद्याधरी कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुई। चाहे किसी के बहकाने से, चाहे अपने भोले पन से, उसने कर्त्तव्य का सीधा रास्ता छोड़ दिया, परन्तु पाप-कल्पना उसके दिल से कोसों दूर थी।

(१३)

ऐ मुसाफ़िर, मैंने पंडित श्रीधर का पता लगाना शुरू किया। मैं उनकी मनोवृत्ति से परिचित थी। वह श्रीरामचन्द्र के भक्त थे। कौशलपुरी की पवित्र भूमि और सरयू नदी के रमणीक तट उनके जीवन के सुख-स्वप्न थे। मुझे ख़याल आया कि संभव है, उन्होंने अयोध्या की राह ली हो। कहीं मेरे प्रयत्न से उनकी खोज मिल जाती, और मैं उन्हें लाकर विद्याधरी के गले से मिला देती, तो मेरा जीवन सफल हो जाता। इस विरहिणी ने बहुत दुःख झेले हैं। क्या अब भी देवताओं को उस पर दया न आयेगी! एक दिन मैंने शेरसिंह से सलाह की, और पाँच विश्वस्त मनुष्यों के साथ अयोध्या चली। पहाड़ों से नीचे उतरते ही रेल मिल गयी। उसने हमारी यात्रा सुलभ कर दी। बीसवें दिन मैं अयोध्या पहुँच गयो, और एक धर्मशाले में ठहरी। फिर सरयू में स्नान करके श्रीरामचन्द्र के दर्शन को चली। मन्दिर के आँगन में पहुँची ही थी कि पंडित श्रीधर की सौम्य मूर्ति दिखायी दी। वह एक कुशासन पर बैठे रामायण का पाठ कर रहे थे, और सहस्रों नर-नारी बैठे हुए उनकी अमृत-वाणी का आनन्द उठा रहे थे।

पंडितजी की दृष्टि मुझ पर ज्योंही पड़ी, वह आसन से उठकर मेरे पास आये, और बड़े प्रेम से मेरा स्वागत किया। दो-ढाई घण्टे तक उन्होंने मुझे उस मन्दिर की सैर करायी। मन्दिर की छत पर से सारा नगर शतरंज की बिसात की भाँति मेरे पैरों के नीचे फैला हुआ दिखायी देता था। मंदगामिनी

वायु सरयू की तरंगों को धीरे-धीरे थपकियाँ दे रही थी। ऐसा जान पड़ता था, मानो स्नेहमयी माता ने इस नगर को अपनी गोद में लिया हो। यहाँ से जब मैं अपने डेरे को चली, तो पंडितजी भी मेरे साथ आये। जब वह इतमीनान से बैठे, तो मैंने कहा—आपने तो हम लोगों से नाता ही तोड़ लिया।

पंडितजी ने दुखित होकर कहा—विधाता की यही इच्छा थी, तो मेरा क्या वश। अब तो श्रीरामचन्द्र की शरण आ गया हूँ, और शेष जीवन उन्हीं की सेवा को भेंट करूँगा।

मैं—आप तो श्रीरामचन्द्र की शरण आ गये हैं, उस अबला विद्याधरी को किसकी शरण छोड़ दिया है?

पंडितजी—आपके मुख से ये शब्द शोभा नहीं देते।

मैंने उत्तर दिया—विद्याधरी को मेरी सिफारिश की आवश्यकता नहीं। अगर आपने उसके पातिव्रत पर सन्देह किया है, तो आपसे ऐसा भीषण पाप हुआ है, जिसका प्रायश्चित आप चार-बार जन्म लेकर भी नहीं कर सकते। आपकी यह भक्ति इस अधर्म का निवारण नहीं कर सकती। क्या आप जानते हैं कि आपके वियोग में उस दुखिया का जीवन कैसे कट रहा है?

पंडितजी ने ऐसा मुँह बना लिया, मानो इस विषय में वह अन्तिम शब्द कह चुके। पर मैं इतनी आसानी से उनका पीछा क्यों छोड़ने लगी थी। मैंने सारी कथा आद्योपान्त सुनायी। और रणधीरसिंह की कपट-नीति का रहस्य खोल दिया। तब पंडितजी की आँखें खुलीं। मैं वाणी में कुशल नहीं हूँ, किन्तु उस समय सत्य और न्याय के पक्ष ने मेरे शब्दों को बहुत ही प्रभावशाली बना दिया था। ऐसा जान पड़ता था, मानो मेरी जिह्वा पर सरस्वती विराजमान हों। अब वे बातें याद आती हैं, तो मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। आखिर विजय मेरे ही हाथ रही। पंडितजी मेरे साथ चलने को तैयार हो गये।

(१५)

यहाँ आकर मैंने शेरसिंह को यहीं छोड़ा, और पंडितजी के साथ अर्जुननगर चली। हम दोनों अपने विचारों में मग्न थे। पंडितजी की गर्दन शर्म से झुकी हुई थी; क्योंकि अब वह रूठनेवाले नहीं, मनानेवाले थे।

आज प्रणय के सूखे हुए धान में फिर पानी पड़ेगा, प्रेम की सूखी हुई नदी फिर उमड़ेगी ?

जब हम विद्याधरी के द्वार पर पहुँचे, तो दिन चढ़ आया था। पंडितजी बाहर ही रुक गये थे। मैंने भीतर जाकर देखा, तो विद्याधरी पूजा पर थी। किन्तु यह किसी देवता की पूजा न थी। देवता के स्थान पर पण्डितजी की खड़ाऊँ रखी हुई थी। पातिव्रत का यह अलौकिक दृश्य देखकर मेरा हृदय पुलकित हो गया। मैंने दौड़कर विद्याधरी के चरणों पर सिर झुका दिया। उसका शरीर सूखकर काँटा हो गया था, और शोक ने कमर झुका दी थी।

विद्याधरी ने मुझे उठाकर छाती से लगा लिया, और बोली—बहन, मुझे लज्जित न करो। खूब आयीं, बहुत दिनों से जी तुम्हें देखने को तरस रहा था।

मैंने उत्तर दिया—जरा अयोध्या चली गयी थी।

जब हम दोनों अपने देश में थीं, तो जब मैं कहीं जाती, तो विद्याधरी के लिए कोई-न-कोई उपहार अवश्य लाती। उसे यह बात याद आ गयी। सजल-नयन होकर बोली—मेरे लिए भी कुछ लायीं ?

मैं—एक बहुत अच्छी वस्तु लायी हूँ।

विद्याधरी—क्या है देखूँ ?

मैं—पहले बूझ आओ।

विद्याधरी—सुहाग की पिटारी होगी।

मैं—नहीं, उससे अच्छी।

विद्याधरी—ठाकुरजी की मूर्ति।

मैं—नहीं, उससे भी अच्छी।

विद्याधरी—मेरे प्राणाधार का कोई समाचार।

मैं—उससे भी अच्छा।

विद्याधरी प्रबल आवेश से व्याकुल होकर उठी कि द्वार पर जाकर पति का स्वागत करे, किन्तु निर्बलता ने मन की अभिलाषा न निकलने दी। तीन बार सँभली; और तीन बार गिरी। तब मैंने उसका सिर अपनी गोद में रख लिया, और आँचल से हवा करने लगी। उसका हृदय बड़े वेग से धड़क रहा था, और पति-दर्शन का आनन्द आँखों से आँसू बनकर निकलता था।

जब ज़रा चित्त सावधान हुआ, तो उसने कहा—उन्हें बुला लो, उनका दर्शन मुझे रामबाण हो जायगा।

ऐसा ही हुआ। ज्योंही पण्डितजी अन्दर आये, विद्याधरी उठकर उनके पैरों से लिपट गयी। देवी ने बहुत दिनों के बाद पति के दर्शन पाये हैं। अश्रु-धारा उनके पैर पखार रही है।

मैंने वहाँ ठहरना उचित न समझा। इन दोनों प्राणियों के हृदय में कितनी ही बातें आ रही होंगी, दोनों क्या-क्या कहना और क्या-क्या सुनना चाहते होंगे, यह विचारकर मैं उठ खड़ी हुई, और बोली—बहन, अब मैं जाती हूँ, शाम को फिर आऊँगी।

विद्याधरी ने मेरी ओर आँखें उठायीं, पुतलियों के स्थान पर हृदय रखा हुआ था। दोनों आँखें आकाश की ओर उठाकर बोली—ईश्वर तुम्हें इस यश का फल दें।

(१६)

ऐ मुसाफ़िर, मैंने दो बार पण्डित श्रीधर को मौत के मुँह से बचाया था, किन्तु आज का-सा आनन्द मुझे कभी न प्राप्त हुआ था।

जब मैं ज्ञानसागर पर पहुँची, तो दोपहर हो आया था। विद्याधरी की शुभ कामना मुझसे पहले ही पहुँच चुकी थी। मैंने देखा कि कोई पुरुष गुफा से नकलकर ज्ञानसागर की ओर चला जाता है। मुझे आश्चर्य हुआ कि इस समय यहाँ कौन आया। लेकिन जब वह समीप आ गया, तो मेरे हृदय में ऐसी तरंगें उठने लगीं, मानो वह छाती से बाहर निकल पड़ेंगी। यह मेरे प्राणेश्वर, मेरे पतिदेव थे। मैं उनके चरणों पर गिरना ही चाहती थी कि उनका कर पाश मेरे गले में पड़ गया।

पूरे दस वर्षों के बाद आज मुझे यह शुभ दिन देखना नसीब हुआ। मुझे उस समय ऐसा जान पड़ता था कि ज्ञानसागर के कमल मेरे ही लिए खिले हैं, गिरिराज ने मेरे ही लिए फूल की शय्या बिछायी है, हवा मेरे ही लिए झूमती हुई आ रही है।

दस वर्षों के बाद मेरा उजड़ा हुआ घर बसा। गये हुए दिन लौटे। मेरे जानन्द का अनुमान कौन कर सकता है!

मेरे पति ने प्रेम-करुण आँखों से देखकर कहा—प्रियंवदा!

त्यागी का प्रेम

लाल गोपीनाथ को युवावस्था में ही दर्शन से प्रेम हो गया था। अभी वह इंटरमीजियट क्लास में थे कि मिल और बर्कले के वैज्ञानिक विचार उन्हें कंठस्थ हो गये थे। उन्हें किसी प्रकार के विनोद-प्रमोद से रुचि न थी, यहाँ तक कि कालेज के क्रिकेट-मैचों में भी उनको उत्साह न होता था। हास्य-परिहास से कोसों भागते, और उनसे प्रेम की चर्चा करना तो मानो बच्चे को जूजू से डराना था। प्रातःकाल घर से निकल जाते, और शहर से बाहर किसी सघन वृक्ष की छाँह में बैठकर दर्शन का अध्ययन करने में निरत हो जाते। काव्य, अलंकार, उपन्यास, सभी को त्याज्य समझते थे। शायद ही अपने जीवन में उन्होंने कोई क़िस्से-कहानी की किताब पढ़ी हो। इसे केवल समय का दुरुपयोग ही नहीं, वरन मन और बुद्धि-विकास के लिए घातक मानते थे। इसके साथ ही वह उत्साह-हीन न थे। सेवा-समितियों में बड़े उत्साह से भाग लेते। स्वदेश-वासियों की सेवा के किसी अवसर को हाथ से न जाने देते। बहुधा मुहल्ले के छोटे-छोटे दूकानदारों की दूकान पर जा बैठते, और उनके घाटे-टोटे, मंदे-तेज़े की राम-कहानी सुनते।

शनैः-शनैः कॉलेज से उन्हें घृणा हो गयी। उन्हें अब अगर किसी विषय से प्रेम था, तो वह दर्शन था। कॉलेज की बहुविषयक शिक्षा उनके दर्शनानु-राग में बाधक होती। अतएव उन्होंने कॉलेज छोड़ दिया, और एकाग्रचित्त होकर विज्ञानोपार्जन करने लगे। किन्तु दर्शनानुराग के साथ-ही-साथ उनका देशानुराग भी बढ़ता गया, और कॉलेज छोड़ने के थोड़े ही दिनों बाद वह अनिवार्यतः जाति-सेवकों के दल में सम्मिलित हो गये। दर्शन में भ्रम था, अविश्वास था, अन्धकार था। जाति-सेवा में सम्मान था, यश था और दीनों का आशीर्वाद था। उनका वह सदानुराग, जो बरसों से वैज्ञानिक वादों के नीचे दबा हुआ था, वायु के प्रचण्ड वेग के साथ निकल पड़ा। नगर के सार्व-जनिक क्षेत्र में कूद पड़े। देखा, तो मैदान खाली था। जिधर आँख उठाते, सन्नाटा दिखायी देता। ध्वजाधारियों की कमी न थी, पर सच्चे हृदय कहीं

नज़र न आते थे। चारों ओर से उनकी खींच होने लगी। किसी संस्था के मंत्री बने, किसी के प्रधान; किसी के कुछ, किसी के कुछ। इसके आवेश में दर्शनानुराग भी विदा हुआ। पिंजरे में गानेवाली चिड़िया विस्तृत पर्वत-राशियों में आकर अपना राग भूल गयी! अब भी वह समय निकालकर दर्शन-ग्रन्थों के पन्ने उलट-पलट लिया करते थे, विचार और अनुशीलन का अवकाश कहाँ? नित्य मन में यही संग्राम होता रहता कि किधर जाऊँ? उधर या इधर? विज्ञान अपनी ओर खींचता, देश अपनी ओर।

एक दिन वह इसी उलझन में नदी के तट पर बैठे हुए थे। जलधारा तट के दृश्यों और वायु के प्रतिकूल झोंकों की परवा न करते हुए बड़े वेग के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ी चली जाती थी। पर लाला गोपीनाथ का ध्यान इस तरफ़ न था, वह अपने स्मृति-भंडार से किसी ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुष को खोज निकालना चाहते थे, जिसने जाति-सेवा के साथ विज्ञानसागर में गोते लगाये हों। सहसा उनके कॉलेज के एक अध्यापक, पंडित अमरनाथ अग्निहोत्री आकर उनके समीप बैठ गये और बोले—कहिए लाला गोपीनाथ, क्या खबरें हैं?

गोपीनाथ ने रुखाई से उत्तर दिया—कोई नयी बात तो नहीं हुई। पृथ्वी अपनी गति से चली जा रही है।

अमरनाथ—म्युनिस्पिल वार्ड नंबर २१ की जगह खाली है, उसके लिए किसे चुनना निश्चित किया है?

गोपीनाथ—देखिए, कौन होता है। आप भी खड़े हुए हैं?

अमरनाथ—अजी, मुझे तो लोगों ने जबरदस्ती घसीट लिया, नहीं तो मुझे इतनी फुर्सत कहाँ?

गोपीनाथ—मेरा भी यही विचार है। अध्यापकों का क्रियात्मक राजनीति में फँसना बहुत अच्छी बात नहीं।

अमरनाथ इस व्यंग्य से बहुत लज्जित हुए। एक क्षण के बाद प्रतिकार के अभाव से बोले—तुम आजकल दर्शन का अभ्यास करते हो या नहीं?

गोपीनाथ—बहुत कम। इसी दुविधा में पड़ा हुआ हूँ कि राष्ट्रीय सेवा का मार्ग ग्रहण करूँ या सत्य की खोज में जीवन व्यतीत करूँ।

अमरनाथ—राष्ट्रीय संस्थाओं में सम्मिलित होने का समय अभी तुम्हारे लिए नहीं आया। अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है! जब तक विचारों में गांभीर्य और सिद्धान्तों पर दृढ़ विश्वास न आ जाय, उस समय तक केवल क्षणिक आवेशों के वशवर्ती होकर किसी काम में कूद पड़ना अच्छी बात नहीं। राष्ट्रीय सेवा बड़े उत्तरदायित्व का काम है।

(२)

गोपीनाथ ने निश्चय कर लिया, मैं जाति-सेवा में जीवनक्षेप करूँगा। अमरनाथ ने भी यह फैसला किया कि मैं म्युनिसिपैलिटी में अवश्य जाऊँगा। दोनों का परस्पर विरोध उन्हें कर्मक्षेत्र की ओर खींच ले गया। गोपीनाथ की साख पहले ही से जम गयी थी। घर के धनी थे। शक्कर और सोने चाँदी की दलाली होती थी। व्यापारियों में उनके पिता का बड़ा मान था। गोपीनाथ के दो बड़े भाई थे। वे भी दलाली करते थे। परस्पर मेल था, धन था, सन्तानें थीं। अगर न थी, तो शिक्षा और शिक्षित समुदाय में गणना। वह बात गोपीनाथ की बदौलत प्राप्त हो गयी। इसलिए इनकी स्वच्छन्दता पर किसी ने आपत्ति नहीं की, किसी ने उन्हें धनोपार्जन के लिए मजबूर नहीं किया। अतएव गोपीनाथ निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व होकर राष्ट्रीय-सेवा में निरत हो गये। कहीं किसी अनाथालय के लिए चन्दा जमा करते, किसी कन्या-पाठशाला के लिए भिक्षा माँगते फिरते। नगर की कांग्रेस-कमेटी ने उन्हें अपना मन्त्री नियुक्त किया। उस समय तक कांग्रेस ने कर्मक्षेत्र में पदार्पण नहीं किया था। उनकी कार्यशीलता ने इस जीर्ण संस्था का मानो पुनरुद्धार कर दिया। वह प्रातः से सन्ध्या और बहुधा पहर रात तक इन्हीं कामों में लिप्त रहते थे। चन्दे का रजिस्टर हाथ में लिये उन्हें नित्यप्रति साँझ-सवेरे अमीरों और रईसों के द्वार पर खड़े देखना एक साधारण दृश्य था। धीरे-धीरे कितने ही युवक उनके भक्त हो गये। लोग कहते, कितना निःस्वार्थ, कितना आदर्शवादी, त्यागी, जाति-सेवक है। कौन सुबह से शाम तक निःस्वार्थ भाव से केवल जनता का उपकार करने के लिए यों दौड़धूप करेगा? उनका आत्मोत्सर्ग प्रायः द्वेषियों को भी अनुरक्त कर देता था। उन्हें बहुधा रईसों की अभद्रता, असज्जनता, यहाँ तक कि उनके कटु शब्द भी सहने पड़ते थे। उन्हें अब विदित होता जाता था कि

जाति-सेवा बड़े अंशों तक केवल चन्दे माँगना है। इसके लिए धनिकों को दरबारदारी या दूसरे शब्दों में खुशामद भी करनी पड़ती थी। दर्शन के उस गौरव-युक्त अध्ययन और इस दान-लोलुपता में कितना अन्तर था। कहाँ मिल और केंट, स्पेन्सर और किड के साथ एकान्त में बैठे हुए जीव और प्रकृति के गहन, गूढ़ विषय पर वार्तालाप, और कहाँ इन अभिमानी, असभ्य, मूर्ख व्यापारियों के सामने सिर झुकाना! वह अन्तःकरण में उनसे घृणा करते थे। ये लोग धनी थे, और केवल धन कमाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त उनमें और कोई विशेष गुण न था। इनमें अधिकांश ऐसे थे, जिन्होंने कपट-व्यापार से धनोपार्जन किया था। पर गोपीनाथ के लिए वे सभी पूज्य थे, क्योंकि उन्हीं की कृपादृष्टि पर उनकी राष्ट्र-सेवा अवलम्बित थी।

इस प्रकार कई वर्ष गुजर गये। गोपीनाथ नगर के मान्य पुरुषों में गिने जाने लगे। वह दीनजनों के आधार और दुखियों के मददगार थे। अब वह बहुत कुछ निर्भीक हो गये थे, और कभी-कभी रईसों को भी कुमार्ग पर चलते देखकर फटकार दिया करते थे। उनकी तीव्र आलोचना भी अब चन्दा जमा करने में उनकी सहायक हो जाती थी।

अभी तक उनका विवाह न हुआ था। वह पहले ही से ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर चुके थे। विवाह करने से साफ इनकार किया। मगर जब पिता और अन्य बन्धुजनों ने बहुत आग्रह किया, और उन्होंने स्वयं कई विज्ञान-ग्रन्थों में देखा कि इन्द्रिय-दमन स्वास्थ्य के लिए हानिकर है, तो असमंजस में पड़े। हफ्तों सोचते हो गये, और वह मन में कोई बात पक्की न कर सके। स्वार्थ और परमार्थ में संघर्ष हो रहा था। बिवाह का अर्थ था अपनी उदारता की हत्या करना, अपने विस्तृत हृदय को संकुचित करना, राष्ट्र से मुँह मोड़ना। वह अब इतने ऊँचे आदर्श का त्याग करना निन्द्य और उपहासजनक समझते थे। इसके अतिरिक्त अब वह अनेक कारणों से अपने को पारिवारिक जीवन के अयोग्य पाते थे। जीविका के लिए जिस उद्योगशीलता, जिस अनवरत परिश्रम और जिस मनोवृत्ति की आवश्यकता है, वह उनमें न रही थी। जाति-सेवा में भी उद्योगशीलता और अध्यवसाय की कम जरूरत न थी लेकिन उसमें आत्मगौरव की हानि न होती थी। परोपकार के लिए भिक्षा माँगना दान है, अपने

लिए पान का एक बीड़ा भी मिला है। स्वभाव में एक प्रकार की स्वच्छन्दत आ गयी थी। इन त्रुटियों पर परदा डालने के लिए जाति-सेवा का बहान बहुत अच्छा था।

एक दिन वह सैर करने जा रहे थे कि रास्ते में अध्यापक अमरनाथ मुलाकात हो गयी। यह महाशय अब म्युनिसिपल-बोर्ड के मन्त्री हो गये थे और आजकल इस दुविधा में पड़े हुए थे कि शहर में मादक वस्तुओं के बेचने का ठेका लूँ या न लूँ। लाभ बहुत था, पर बदनामी भी कम न थी। अभी तक कुछ निश्चय न कर सके थे। इन्हें देखकर बोले—कहिए लालाजी, मिजाज अच्छा है न! आपके विवाह के विषय में क्या हुआ?

गोपीनाथ ने दृढ़ता से कहा—मेरा इरादा विवाह करने का नहीं है।

अमरनाथ—ऐसी भूल न करना। तुम अभी नवयुवक हो, तुम्हें संसार क कुछ अनुभव नहीं। मैंने ऐसी कितनी मिसालें देखी हैं, जहाँ अविवाहित रहने से लाभ के बदले हानि ही हुई है। विवाह मनुष्य को सुमार्ग पर रखने का सबसे उत्तम साधन है, जो अब तक मनुष्य ने आविष्कृत किया है। उस व्रत से क्या फायदा, जिसका परिणाम छिछोरापन हो।

गोपीनाथ ने प्रत्युत्तर दिया—आपने मादक वस्तुओं के ठेके के विषय में क्या निश्चय किया?

अमरनाथ—अभी तक कुछ नहीं। जी हिचकता है। कुछ-न-कुछ बदनामी तो होगी ही।

गोपीनाथ—एक अध्यापक के लिए मैं इस पेशे को अपमान समझता हूँ।

अमरनाथ—कोई पेशा खराब नहीं, अगर ईमानदारी से किया जाय।

गोपीनाथ—यहाँ मेरा आपसे मतभेद है। कितने ऐसे व्यवसाय हैं, जिन्हें एक सुशिक्षित व्यक्ति कभी स्वीकार नहीं कर सकता! मादक वस्तुओं का ठेका उनमें से एक है।

गोपीनाथ ने आकर अपने पिता से कहा—मैं कदापि विवाह न करूँगा आप लोग मुझे विवश न करें, वर्ना पछताइएगा।

अमरनाथ ने उसी दिन ठेके के लिए प्रार्थनापत्र भेज दिया, और वह स्वीकृत भी हो गया।

(३)

दो साल हो गये हैं। लाला गोपीनाथ ने एक कन्या-पाठशाला खोली है, और उसके प्रबन्धक हैं। शिक्षा की विभिन्न पद्धतियों का उन्होंने खूब अध्ययन किया है। और इस पाठशाला में आप उनका व्यवहार कर रहे हैं। शहर में यह पाठशाला बहुत ही सर्वप्रिय है। इसने बहुत अंशों में उस उदासीनता को दूर कर दिया है, जो माता-पिता को पुत्रियों की शिक्षा की ओर होती है। शहर के गण्यमान्य पुरुष अपनी लड़कियों को सहर्ष पढ़ने भेजते हैं। वहाँ की शिक्षा-शैली कुछ ऐसी मनोरंजक है कि बालिकाएँ एक बार जाकर मानो मन्त्र-मुग्ध हो जाती हैं। फिर उन्हें घर पर चैन नहीं मिलता। ऐसी व्यवस्था की गयी है कि तीन-चार वर्षों में कन्याओं को गृहस्थी के मुख्य कामों से परिचय हो जाय। सबसे बड़ी बात यह कि यहाँ धर्म-शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध किया गया है। अबकी साल से प्रबन्धक महोदय ने अँगरेज़ी कक्षाएँ भी खोल दी हैं। उन्होंने एक सुशिक्षित गुजराती महिला को बम्बई से बुलाकर पाठशाला उनके हाथ में दे दी है। इन महिला का नाम है आनन्दीबाई। विधवा हैं, हिन्दी-भाषा से भली-भाँति परिचित नहीं, किन्तु गुजराती में कई पुस्तकें लिख चुकी हैं। कई कन्या-पाठशालाओं में काम कर चुकी हैं। शिक्षा-सम्बन्धी विषयों में अच्छी गति है। उनके आने से मदरसे में और भी रौनक़ आ गयी है। कई प्रतिष्ठित सज्जनों ने, जो अपनी बालकाओं को मसूरी और नैनीताल भेजना चाहते थे, अब उन्हें यहीं भरती करा दिया है। आनन्दीबाई रईसों के घरों में जाती हैं, और स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार करती हैं। उनके वस्त्राभूषणों से सुरुचि का बोध होता है। हैं भी उच्च कुल की, इसलिए शहर में उनका बड़ा सम्मान होता है। लड़कियाँ उन पर जान देती हैं, उन्हें मा कहकर पुकारती हैं। गोपीनाथ पाठशाला की उन्नति देख-देखकर फूले नहीं समाते। जिससे मिलते हैं, आनन्दीबाई का ही गुणगान करते हैं। बाहर से कोई सुविख्यात पुरुष आता है, तो उससे पाठशाला का निरीक्षण अवश्य कराते हैं। आनन्दी की प्रशंसा से उन्हें वही आनन्द प्राप्त होता है, जो स्वयं अपनी प्रशंसा से होता है। बाईजी को भी दर्शन से प्रेम है, और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्हें गोपीनाथ पर असीम श्रद्धा है। वह हृदय से उनका सम्मान करती हैं। उनके त्याग और निष्काम

जाति-भक्ति ने उन्हें वशीभूत कर लिया है वह मुँह पर तो उनकी बड़ाई नह करतीं, पर रईसों के घरों में बड़े प्रेम से उनका यश-गान करती हैं। ऐसे सच्चे सेवक आजकल कहाँ ? लोग कीर्ति पर जान देते हैं। जो थोड़ी-बहुत सेव करते हैं वह दिखावे के लिए। सच्ची लगन किसी में नहीं। मैं लालाजी क पुरुष नहीं, देवता समझती हूँ। कितना सरल, सन्तोषमय जीवन है ! न कोः व्यसन, न विलास। सबेरे से सायंकाल तक दौड़ते रहते हैं। न खाने का कोः समय, न सोने का। उस पर कोई ऐसा नहीं, जो उनके आराम का ध्यान रखे बेचारे घर गये, जो कुछ किसी ने सामने रख दिया; चुपके से खा लिया, फि छड़ी उठायी, और किसी तरफ़ चल दिये। दूसरी औरत कदापि अपनी पत्न की भाँति सेवा-सत्कार नहीं कर सकती।

दशहरे के दिन थे। कन्या-पाठशाला में उत्सव मनाने को तैयारियाँ ह रही थीं। एक नाटक खेलने का निश्चय किया गया था। भवन खूब सजाय गया था। शहर के रईसों को निमंत्रण दिये गये थे। यह कहना कठिन है कि किसका उत्साह बढ़ा हुआ था, बाईजी का या लाला गोपीनाथ का। गोपीनाथ सामग्रियाँ एकत्र कर रहे थे, उन्हें अच्छे ढंग से सजाने का भार आनन्दी ने लिया था। नाटक भी इन्हीं ने रचा था। नित्यप्रति उसका अभ्यास कराती थीं और स्वयं एक पार्ट ले रखा था।

विजया-दशमी आ गयी। दोपहर तक गोपीनाथ फ़र्श और कुरसियों क इंतजाम करते रहे। जब एक बज गया, और अब भी वह वहाँ से न टले, त आनन्दी ने कहा—लालजी, आपको भोजन करने को देर हो रही है। अ सब काम हो गया है। जो कुछ बच रहा है, मुझ पर छोड़ दीजिए।

गोपीनाथ ने कहा—खा लूँगा। मैं ठीक समय पर भोजन करने का पाबन्द नहीं हूँ। फिर घर तक कौन जाय। घण्टों लग जायँगे। भोजन के उपरान्त आराम करने को जी चाहेगा। शाम हो जायगी।

आनन्दी—भोजन तो मेरे यहाँ तैयार है, ब्राह्मणी ने बनाया है। चल-कर खा लीजिए, और यहीं ज़रा देर आराम भी कर लीजिए।

गोपीनाथ—यहाँ क्या खा लूँ ! एक वक्त न खाऊँगा, तो ऐसी कौन-सी हानि हो जायगी ?

आनन्दी—जब भोजन तैयार है, तो उपवास क्यों कीजिएगा।

गोपीनाथ—आप जायँ, आपको अवश्य देर हो रही है। मैं काम में ऐसा भूला की आपको सुधि ही न रही।

आनन्दी—मैं भी एक जून उपवास कर लूँगी तो क्या हानि होगी?

गोपीनाथ—नहीं-नहीं, इसको क्या जरूरत। मैं आपसे सच कहता हूँ, मैं बहुधा एक ही जून खाता हूँ।

आनन्दी—अच्छा, मैं आपके इनकार का आशय समझ गयी। इतनी मोटी बात अब तक मुझे न सूझी।

गोपी—क्या समझ गयीं? मैं छूत-छात नहीं मानता। यह तो आपको मालूम ही है।

आनन्दी—इतना जानती हूँ। किन्तु जिस कारण आप मेरे यहाँ भोजन करने से इनकार कर रहे हैं, उसके विषय में केवल इतना निवेदन है कि मेरा आपसे केवल स्वामी-सेवक का सम्बन्ध नहीं है। आपका मेरे पान-फूल को अस्वीकार करना अपने एक सच्चे भक्त के मर्म को आघात पहुँचाना है। मैं आपको इसी दृष्टि से देखती हूँ।

गोपीनाथ को अब कोई आपत्ति न हो सकी। जाकर भोजन कर लिया। वह जब तक आसन पर बैठे रहे, आनन्दी बैठी पंखा झलती रही।

इस घटना को लाला गोपीनाथ के मित्रों ने यों आलोचना की—महाशय-जी अब तो वहीं ('वहीं' पर खूब ज़ोर देकर) भोजन भी करते हैं।

(४)

शनैः-शनैः परदा हटने लगा। लाला गोपीनाथ को अब परवशता ने साहित्य-सेवी बना दिया था। घर से उन्हें भोजन और वस्त्र तो मिल जाता था, किन्तु पत्र-पत्रिकाओं तथा अन्य अनेक कामों के लिए उन्हें घरवालों से कुछ माँगते हुए बहुत संकोच होता था। उनका आत्म-सम्मान ज़रा-ज़रा सी-बातों के लिए भाइयों के सामने हाथ फैलाना अनुचित समझता था। वह अपनी ज़रूरतें आप पूरी करना चाहते थे। घर पर भाइयों के लड़के इतना कोलाहल मचाते कि उनका जी कुछ लिखने में न लगता। इसलिए जब उनकी कुछ लिखने की इच्छा होती, तो बेखटके पाठशाला चले जाते। आनंदी

बाई भी यहीं रहती थी। वहाँ न कोई शोर था, न गुल। एकान्त में काम करने में जी लगता। भोजन का समय आ जाता, तो वहीं भोजन भी कर लेते। कुछ दिनों के बाद उन्हें लिखने में कुछ असुविधा होने लगी (आँखें कमज़ोर हो गयी थीं), तो आनन्दी ने लिखने का भार अपने सिर ले लिया। लाला साहब बोलते थे, आनन्दी लिखती थी। गोपीनाथ की प्रेरणा से उसने हिन्दी सीख ली थी, और थोड़े ही दिनों में इतनी अभ्यस्त हो गयी थी कि उसे लिखने में ज़रा भी हिचक न होती। लिखते समय कभी-कभी उसे ऐसे शब्द और मुहावरे सूझ जाते कि गोपीनाथ फड़क उठते, उनके लेख में जान-सी पड़ जाती। वह कहते, यदि तुम स्वयं कुछ लिखो, तो मुझसे बहुत अच्छा लिखोगी। मैं तो बेगार करता हूँ। तुम्हें परमात्मा की ओर से यह शक्ति प्रदान हुई है। नगर के लालबुझक्कड़ों में इस सहकारिता पर टीका-टिप्पणियाँ होने लगीं। पर विद्वज्जन अपनी आत्मा की शुचिता के सामने ईर्ष्या के व्यंग्य की कब परवाह करते हैं! आनन्दी कहती, यह तो संसार है, जिसके मन में जो आये करे, मैं उस पुरुष का निरादर नहीं कर सकती, जिस पर मेरी श्रद्धा है। पर गोपीनाथ इतने निर्भीक न थे। उनकी सुकीर्ति का आधार लोक-मत था। वह उसकी भर्त्सना न कर सकते थे। इसलिए वह दिन के बदले रात को रचना करने लगे। पाठशाला में इस समय कोई देखनेवाला न होता था। रात की नीरवता में खूब जी लगता। आराम-कुर्सी पर लेट जाते। आनन्दी मेज़ के सामने कलम हाथ में लिये उनकी ओर देखा करती। जो कुछ उनके मुख से निकलता, तुरन्त लिख लेती। उसकी आँखों से विनय और शील, श्रद्धा और प्रेम की किरणें-सी निकलती हुई जान पड़तीं। गोपीनाथ जब किसी भाव को मन में व्यक्त करने के बाद आनन्दी की ओर ताकते कि वह लिखने के लिए तैयार है या नहीं, तो दोनो व्यक्तियों की निगाहें मिलतीं, और आप-ही-आप झुक जातीं। गोपीनाथ को इस तरह काम करने की ऐसी आदत पड़ती जाती थी कि जब किसी कार्य-वश यहाँ आने का अवसर न मिलता, तो वह विकल हो जाते थे।

आनन्दी से मिलने के पहले गोपीनाथ को स्त्रियों का जो कुछ ज्ञान था, वह केवल पुस्तकों पर अवलम्बित था। स्त्रियों के विषय में प्राचीन और अर्वा-

चीन, प्राच्य और पाश्चात्य, सभी विद्वानों का एक ही मत था—ये मायावी, आत्मिक उन्नति की बाधक, परमार्थ की विरोधिनी, वृत्तियों को कुमार्ग की ओर ले जानेवाली, हृदय को संकीर्ण बनानेवाली होती हैं। इन्हीं कारणों से उन्होंने इस मायावी जाति से अलग रहना ही श्रेयस्कर समझा था, किन्तु अनुभव बतला रहा था कि स्त्रियाँ सन्मार्ग की ओर भी ले जा सकती हैं, उनमें सद्गुण भी हो सकते हैं, वे कर्त्तव्य और सेवा के भावों को जाग्रत भी कर सकती हैं। तब उनके मन में प्रश्न उठता, यदि आनन्दी से मेरा विवाह होता, तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी। उसके साथ तो मेरा जीवन बड़े आनन्द से कट जाता।

एक दिन वह आनन्दी के यहाँ गये, तो सिर में दर्द हो रहा था कुछ लिखने की इच्छा न हुई। आनन्दी को इसका कारण मालूम हुआ तो उसने उनके सिर में धीरे-धीरे तेल मलना शुरू किया। गोपीनाथ को उस समय अलौकिक सुख मिल रहा था। मन में प्रेम की तरंगे उठ रही थीं—नेत्र, मुख, वाणी—सभी प्रेम में पगे जाते थे। उसी दिन से उन्होंने आनन्दी के यहाँ आना छोड़ दिया। एक सप्ताह बीत गया, और न आये। आनन्दी ने लिखा, आपसे पाठशाला-सम्बन्धी कई विषयों में राय लेनी है। अवश्य आइए। तब भी न गये। उसने फिर लिखा, मालूम होता है, आप मुझसे नाराज हैं। मैंने जान-बूझकर तो कोई ऐसा काम नहीं किया, लेकिन यदि वास्तव में आप नाराज़ हैं, तो मैं यहाँ रहना उचित नहीं समझती। अगर आप अब भी न आयेंगे, तो मैं द्वितीय अध्यापिका को चार्ज देकर चली जाऊँगी। गोपीनाथ पर इस धमकी का कुछ भी असर न हुआ। अब भी न गये। अन्त में दो महीने तक खिंचे रहने के बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि आनन्दी बीमार है, और दो दिन से पाठशाला नहीं आ सकी। तब वह किसी तर्क या युक्ति से अपने को रोक न सके। पाठशाला में आये, और कुछ झिझकते, कुछ सकुचाते, आनन्दी के कमरे में कदम रखा। देखा, तो वह चुपचाप पड़ी हुई थी। मुख पीला था, शरीर घुल गया था, उसने उनकी ओर दया-प्रार्थी नेत्रों से देखा। उठना चाहा, पर अशक्ति ने उठने न दिया। गोपीनाथ ने आर्द्र कण्ठ से कहा—लेटी रहो, लेटी रहो, उठने की जरूरत नहीं, मैं बैठ जाता हूँ। डॉक्टर साहब

आये थे ?

मिश्राइन ने कहा—जी हाँ, दो बार आये थे। दवा दे गये हैं।

गोपीनाथ ने नुसख़ा देखा। डाक्टरी का साधारण ज्ञान था। नुसखे से ज्ञात हुआ, हृद्रोग है। औषधियाँ सभी पुष्टिकर और बलवर्द्धक थीं। आनन्दी की ओर फिर देखा। उसकी आँखों से अश्रु-धारा बह रही थी। उनका गला भी भर आया। हृदय मसोसने लगा। गद्गद होकर बोले—आनन्दी, तुमने मुझे पहले इसकी सूचना न दी, नहीं तो रोग इतना न बढ़ने पाता।

आनन्दी—कोई बात नहीं, अच्छी हो जाऊँगी, जल्दी ही अच्छी हो जाऊँगी। मर भी जाऊँगी, तो कौन रोनेवाला बैठा हुआ है। यह कहते-कहते वह फूट-फूटकर रोने लगी।

गोपीनाथ दार्शनिक थे, पर अभी तक उनके मन के कोमल भाव शिथिल न हुए थे। कंपित स्वर से बोले—आनन्दी, संसार में कम-से-कम एक ऐसा आदमी है, जो तुम्हारे लिए अपने प्राण तक दे देगा। यह कहते-कहते वह रुक गये। उन्हें अपने शब्द और भाव कुछ भद्दे और उच्छृंखल-से जान पड़े। अपने मनोभावों को प्रकट करने के लिए वह इन सार-हीन शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक काव्यमय, रस-पूर्ण अनुरक्त शब्दों का व्यवहार करना चाहते थे, पर इस वक्त याद न पड़े।

आनन्दी ने पुलकित होकर कहा—दो महीने तक किस पर छोड़ दिया था ?

गोपीनाथ—इन दो महीनों में मेरी जो दशा थी, वह मैं ही जानता हूँ। यही समझ लो कि मैंने आत्महत्या नहीं की, यही बड़ा आश्चर्य है। मैंने न समझा था कि अपने व्रत पर स्थिर रहना मेरे लिए इतना कठिन हो जायगा।

आनन्दी ने गोपीनाथ का हाथ धीरे से अपने हाथ में लेकर कहा—अब तो कभी इतनी कठोरता न कीजिएगा ?

गोपीनाथ—(संकुचित होकर) अंत क्या है ?

आनन्दी—कुछ भी हो।

गोपीनाथ—कुछ भी हो ?

आनन्दी—हाँ, कुछ भी हो।

गोपीनाथ—अपमान, निन्दा, उपहास, आत्मवेदना !

आनन्दी—कुछ भी हो, मैं सब कुछ सह सकती हूँ, और आपको मेरे हेतु सहना पड़ेगा।

गोपीनाथ—आनन्दी, मैं अपने को प्रेम पर बलिदान कर सकता हूँ, लेकिन अपने नाम को नहीं। इस नाम को अकलंकित रखकर मैं समाज की बहुत सेवा कर सकता हूँ।

आनन्दी—न कीजिए। आपने सब कुछ त्यागकर यह कीर्ति प्राप्त की है। मैं आपके यश को नही मिटाना चाहती। (गोपीनाथ का हाथ हृदय-स्थल पर रखकर) इसको चाहती हूँ। इसके अधिक त्याग की अकांक्षा नहीं रखती।

गोपीनाथ—दोनों बातें एक साथ सम्भव है ?

आनन्दी—सम्भव हैं। मेरे लिए सम्भव हैं। मैं प्रेम पर अपनी आत्मा को भी न्योछावर कर सकती हूँ।

(५)

इसके पश्चात् लाला गोपीनाथ ने आनन्दी की बुराई करनी शुरू की। मित्रों से कहते, उनका जी अब काम में नहीं लगता। पहले की-सी तनदेही नहीं है। किसी से कहते, उनका जी अब यहाँ उचाट हो गया है, अपने घर जाना चाहती हैं। उनकी इच्छा है कि प्रतिवर्ष तरक्की मिला करे, और इसकी यहाँ गुंजाइश नहीं। पाठशाला कई बार देखी, और अपनी आलोचना में काम को असन्तोष-जनक लिखा। शिक्षा, संगठन, उत्साह, सुप्रबन्ध सभी बातों में निराशा-जनक क्षति पायी। वार्षिक अधिवेशन में जब कई सदस्यों ने आनन्दी की वेतन वृद्धि का प्रस्ताव उपस्थित किया, तो लाला गोपीनाथ ने उसका विरोध किया। उधर आनन्दीबाई भी गोपीनाथ के दुखड़े रोने लगी। 'यह मनुष्य नहीं हैं, पत्थर के देवता हैं। इन्हें प्रसन्न करना दुस्तर है, अच्छा ही हुआ कि इन्होंने विवाह नहीं किया, नहीं तो दुखिया इनके नखरे उठाते-उठाते सिधार जाती। कहाँ तक कोई सफाई और सुप्रबन्ध पर ध्यान दे। दीवार पर एक धब्बा भी पड़ गया, किसी कोने-खुतरे में एक जाला भी लग गया, बरामदों में काग़ज़ का एक टुकड़ा भी पड़ा मिल गया, तो आपकी त्योरियाँ बदल जाती हैं। दो साल मैंने ज्यों-त्यों करके निबाहे। लेकिन देखती हूँ, तो लाला

साहब की निगाह दिनोंदिन कड़ी होती जाती है। ऐसी दशा में मैं यहाँ अधिक नहीं ठहर सकती। मेरे लिए नौकरी कल्याण नहीं है, जब जी चाहेगा, उठ खड़ी होऊँगी। यहाँ आप लोगों से मेल-मुहब्बत हो गयी है, कन्याओं से ऐसा प्यार हो गया कि छोड़कर जाने का जी नहीं चाहता।' आश्चर्य यह था कि और किसी को पाठशाला में अवनति न दिखलायी देती थी, वरन् हालत पहले से अच्छी थी।

एक दिन पंडित अमरनाथ की लालाजी से भेंट हो गयी। उन्होंने पूछा—कहिए, पाठशाला खूब चल रही है न?

गोपीनाथ—कुछ न पूछिए। दिनोंदिन दशा गिरती जाती है।

अमरनाथ—आनन्दीबाई की ओर से ढील है क्या?

गोपीनाथ—जी हाँ, सरासर। अब काम करने में उनका जी ही नहीं लगता। बैठी हुई योग और ज्ञान के ग्रन्थ पढ़ा करती हैं। कुछ कहता हूँ, तो कहती हैं—'मैं अब इससे और अधिक कुछ नहीं कर सकती। कुछ परलोक की भी चिन्ता करूँ कि चौबीसों घण्टे पेट के धन्धों ही में लगी रहूँ। पेट के लिए पाँच घण्टे बहुत हैं। यहाँ आकर मैंने अपना स्वास्थ्य खो दिया। एक बार कठिन रोग में ग्रस्त हो गयी, क्या कमेटी ने मेरी दवा-दारू का खर्च दे दिया? कोई बात पूछने भी आया? फिर अपनी जान क्यों दूँ।' सुना है, घरों में मेरी बदगोई भी किया करती है।

अमरनाथ मार्मिक भाव से बोले—ये बातें मुझे पहले ही मालूम थीं।

दो साल और गुज़र गये। रात का समय था। कन्या-पाठशाला के उपरवाले कमरे में लाला गोपीनाथ मेज़ के सामने कुरसी पर बैठे हुए थे। सामने आनन्दी कोच पर लेटी हुई थी। उसका मुख बहुत म्लान हो रहा था। कई मिनट तक दोनों विचार में मग्न थे। अन्त में गोपीनाथ बोले—मैंने पहले ही महीने में तुमसे कहा था कि मथुरा चली जाओ।

आनन्दी—वहाँ दस महीने क्योंकर रहती। मेरे पास इतने रुपये कहाँ थे, और न तुम्हीं ने कोई प्रबन्ध करने का आश्वासन दिया। मैंने सोचा, तीन-चार महीने यहाँ रहूँ, तब तक किफायत करके कुछ बचा लूँगी, और तुम्हारी किताब से भी कुछ रुपये मिल जायँगे। तब मथुरा चली जाऊँगी। मगर यह

क्या मालूम था कि बीमारी भी इसी अवसर की ताक में बैठी हुई है। मेरी दशा दो-चार दिन के लिए भी सँभला, और मैं चली। इस दशा में तो मेरे लिए यात्रा करना असम्भव है।

गोपीनाथ—मुझे भय है कि कहीं बीमारी तूल न खींचे। संग्रहणी असाध्य रोग है। महीने-दो-महीने यहाँ और रहना पड़ गया, तो बात खुल जायगी।

आनन्दी—(चिढ़कर) खुल जायगी, खुल जाय। अब इसे कहाँ तक डरूँ।

गोपीनाथ—मैं भी न डरता, अगर मेरे कारण नगर की कई संस्थाओं का जीवन संकट में न पड़ जाता। इसी लिए मैं बदनामी से डरता हूँ। समाज के बन्धन निरे पाखण्ड हैं। मैं उन्हें सम्पूर्णतः अन्याय समझता हूँ। इस विषय में तुम मेरे विचारों को भलीभाँति जानती हो, पर करूँ क्या? दुर्भाग्य-वश मैंने जाति-सेवा का भार अपने ऊपर ले लिया है। उसी का फल है कि आज मुझे अपने माने हुए सिद्धान्तों को तोड़ना पड़ रहा है और जो वस्तु मुझे प्राणों से भी प्रिय है, उसे यों निर्वासित करने पर मजबूर हो रहा हूँ।

किन्तु आनन्दी की दशा सँभलने की जगह दिनोंदिन गिरती ही गयी। कमजोरी से उठना-बैठना कठिन हो गया। किसी वैद्य या डॉक्टर को उसकी अवस्था न दिखायी जाती थी; गोपीनाथ दवाएँ लाते थे, आनन्दी उनका सेवन करती थी, और दिन-दिन निर्बल होती जाती थी। पाठशाला से उसने छुट्टी ले ली थी। किसी से मिलती-जुलती भी न थी। बार-बार चेष्टा करती कि मथुरा चली जाऊँ, किन्तु एक अनजान नगर में अकेले कैसे रहूँगी, न कोई आगे, न पीछे; कोई एक घूँट पानी देनेवाला भी नहीं। यह सब सोचकर उसकी हिम्मत टूट जाती थी। इसी सोच-विचार और हैस-बैस में दो महीने और गुज़र गये, और अन्त में विवश होकर आनन्दी ने निश्चय किया कि अब चाहे कुछ सिर पर बीते, यहाँ से चल ही दूँ। अगर सफर में मर भी जाऊँगी, तो क्या चिन्ता है। उनकी बदनामी तो न होगी। उनके यश को कलंक तो न लगेगा। मेरे पीछे ताने तो न सुनने पड़ेंगे। सफ़र की तैयारियाँ करने लगी। रात को जाने का महूर्त था कि सहसा सन्ध्याकाल ही से प्रसव-पीड़ा होने लगी, और ग्यारह बजते-बजते एक नन्हा सा, दुर्बल सतमासा बालक प्रसव हुआ। बच्चे के रोने की आवाज सुनते ही लाला गोपीनाथ बेतहाशा

ऊपर से उतरे, और गिरते-पड़ते घर भागे। आनन्दी ने इस भेद को अन्त तक छिपाये रखा, अपनी दारुण प्रसव-पीड़ा का हाल किसी से न कहा, दाई को भी सूचना न दी, मगर जब बच्चे के रोने की ध्वनि मदरसे में गूँजी तो क्षण मात्र में दाई सामने आकर खड़ी हो गयी। नौकरानियों को पहले ही से शंकाएँ थीं। उन्हें कोई आश्चर्य न हुआ। जब दाई ने आनन्दी को पुकारा, तो वह सचेत हो गयी। देखा, तो बालक रो रहा है।

(६)

दूसरे दिन दस बजते-बजते यह समाचार सारे शहर में फैल गया। घर घर चर्चा होने लगी। कोई आश्चर्य करता, कोई घृणा करता, कोई हँसी उड़ाता था। लाल गोपीनाथ के छिद्रान्वेषियों की संख्या कम न थी। पण्डित अमरनाथ उनके मुखिया थे। उन लोगों ने लालाजी की निन्दा करनी शुरू की। जहाँ देखिए, वहीं दो-चार सज्जन बैठे गोपनीय भाव से इसी घटना की आलोचना करते नज़र आते थे। कोई कहता था, इस स्त्री के लक्षण पहले ही से विदित हो रहे थे। अधिकांश आदमियों की राय में गोपीनाथ ने यह बुरा किया। यदि ऐसा ही प्रेम ने जोर मारा था, तो उन्हें निडर होकर विवाह कर लेना चाहिए था। यह काम गोपीनाथ का है, इसमें किसी को भ्रम न था। केवल कुशल-समाचार पूछने के बहाने लोग उनके घर जाते और दो-चार अन्योक्तियाँ सुनाकर चले आते थे। इसके विरुद्ध आनन्दी पर लोगों को दया आती थी। पर लालाजी के ऐसे भक्त भी थे, जो लालाजी के माथे यह कलंक मढ़ना पाप समझते थे। गोपीनाथ ने स्वयं मौन धारण कर लिया था। सबकी भली-बुरी बातें सुनते थे, पर मुँह न खोलते थे। इतनी हिम्मत न थी कि सबसे मिलना छोड़ दें।

प्रश्न था, अब क्या हो। आनन्दी बाई के विषय में तो जनता ने फैसला कर दिया। बहस यह थी कि गोपीनाथ के साथ क्या व्यवहार किया जाय। कोई कहता था, उन्होंने जो कुकर्म किया है, उसका फल भोगें। आनन्दी बाई को नियमित रूप से घर में रखें। कोई कहता, हमें इससे क्या मतलब, आनन्दी जाने, और वह जाने, दोनों जैसे-के-तैसे हैं, 'जैसे उदई वैसे भान, न उनके चोटी, न इनके कान।' लेकिन इन महाशय को पाठशाला के अन्दर अब

कदम न रखने देना चाहिए। जनता के फैसले साक्षी नहीं खोजते। अनुमान ही उसके लिए सबसे बड़ी गवाही है।

लेकिन पण्डित अमरनाथ और उनकी गोष्ठी के लोग गोपीनाथ को इतने सस्ते न छोड़ना चाहते थे। उन्हें गोपीनाथ से पुराना द्वेष था। यह कल का लौंडा, दर्शन की दो-चार पुस्तकें उलट-पलटकर, राजनीति में कुछ शुदबुद करके, लीडर बना हुआ विचरे; सुनहरी ऐनक लगाये, रेशमी चादर गले में डाले यों गर्व से ताके मानो सत्य और प्रेम का पुतला है। ऐसे रँगे-सियारों की जितनी क़लई खोली जाय उतना ही अच्छा। जाति को ऐसे दग़ाबाज़, चरित्र-हीन, दुर्बलात्मा सेवकों से सचेत कर देना चाहिए। पण्डित अमरनाथ पाठ-शाला की अध्यापिकाओं और नौकरों से तहक़ीक़ात करते थे। लालाजी कब आते थे, कितनी देर रहते थे, यहाँ क्या किया करते थे, तुम लोग उनकी उप-स्थिति में वहाँ जाने पाते थे या रोक थी। लेकिन ये छोटे-छोटे आदमी, जिन्हें गोपीनाथ से संतुष्ट रहने का कोई कारण न था (उनकी सख़्ती की नौकर लोग बहुत शिकायत किया करते थे) इस दुरवस्था में उनके ऐबों पर परदा डालने लगे। अमरनाथ ने बहुत प्रलोभन दिया, डराया, धमकाया, पर किसी ने भी गोपीनाथ के विरुद्ध साक्षी न दी।

इधर गोपीनाथ ने उसी दिन से आनन्दी के घर आना-जाना छोड़ दिया। दो हफ़्ते तक तो वह अभागिनी किसी तरह कन्या-पाठशाला में रही। पन्द्रहवें दिन प्रबन्धक-समिति ने उसे मकान खाली कर देने का नोटिस दे दिया। महीने-भर की मुहलत देना भी उचित न समझा। अब वह दुखिया एक तंग मकान में रहने लगी. कोई पूछनेवाला न था। बच्चा कमज़ोर, खुद बीमार, न कोई आगे न पीछे, न कोई दुःख का संगी न साथी, शिशु को गोद में लिये दिन-के-दिन बेदाना-पानी पड़ी रहती थी। एक बुढ़िया महरी मिल गयी थी, जो बर्तन धोकर चली जाती थी। कभी-कभी शिशु को छाती से लगाये रात-की-रात रह जाती थी। पर धन्य है उसके धैर्य और सन्तोष को। लाला गोपीनाथ से न मुँह में कोई शिकायत थी, न दिल में। सोचती, इन परिस्थितियों में उन्हें मुझसे नाराज ही रहना चाहिए। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं। उनके बदनाम होने से नगर को कितनी बड़ी हानि होती। सभी उन पर सन्देह करते

हैं, पर किसी को यह साहस तो नहीं हो सकता कि उनके विपक्ष में कोई प्रमाण दे सके।

यह सोचते हुए उसने स्वामी अभेदानन्द की एक पुस्तक उठायी, और उसके एक अध्याय का अनुवाद करने लगी। अब उसकी जीविका का एक-मात्र यही आधार था। सहसा किसी ने धीरे से द्वार खटखटाया। वह चौंक पड़ी। लाला गोपीनाथ की आवाज़ मालूम हुई। उसने तुरन्त द्वार खोल दिया। गोपीनाथ आकर खड़े हो गये, और सोते हुए बालक को प्यार से देखकर बोले—आनन्दी, मैं तुम्हें मुँह दिखाने लायक नहीं हूँ। मैं अपनी भीरुता और नैतिक दुर्बलता पर अत्यन्त लज्जित हूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ कि मेरी बद-नामी जो कुछ होनी थी, वह हो चुकी। मेरे नाम से चलनेवाली संस्थाओं को जो हानि पहुँचनी थी, पहुँच चुकी, अब असम्भव है कि मैं जनता को अपना मुँह फिर दिखाऊँ, और न वह मुझ पर विश्वास ही कर सकती है। इतना जानते हुए भी मुझमें इतना साहस नहीं कि अपने कुकृत्य का भार अपने सिर ले लूँ। मैं पहले सामाजिक शासन की रत्ती-भर परवाह न करता था। पर अब पग-पग पर उसके भय से मेरे प्राण काँपने लगते हैं। धिक्कार है मुझ पर कि मेरे कारण तुम्हारे ऊपर ऐसी-ऐसी विपत्तियाँ पड़ीं। लोक-निन्दा, रोग, शोक, निर्धनता, सभी का सामना करना पड़ा और मैं यों अलग-अलग रहा, मानो मुझसे कोई प्रयोजन ही नहीं। पर मेरा हृदय ही जानता है कि मुझे उसकी कितनी पीड़ा होती थी। कितनी ही बार इधर आने का निश्चय किया, और फिर हिम्मत हार गया। अब मुझे विदित हो गया कि मेरी सारी दार्श-निकता केवल हाथी का दाँत थी। मुझमें क्रिया-शक्ति नहीं है। लेकिन इसके साथ ही तुमसे अलग रहना मेरे लिए असह्य है। तुमसे दूर रहकर मैं जिन्दा नहीं रह सकता। प्यारे बच्चे को देखने के लिए मैं कितनी ही बार लालायित हो गया हूँ। पर यह आशा कैसे करूँ कि मेरी चरित्र-हीनता का ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण पाने के बाद तुम्हें मुझसे घृणा न हो गयी होगी।

आनन्दी—स्वामी, आपके मन में ऐसी बातों का आना मुझपर घोर अन्याय है। मैं ऐसी बुद्धि-हीन नहीं हूँ कि केवल अपने स्वार्थ से लिए आपको कलंकित करूँ। मैं आपको अपना इष्टदेव समझती हूँ, और सदैव समझूँगी।

मैं भी अब आपके वियोग-दुःख को नहीं सह सकती। कभी-कभी आपके दर्शन पाती रहूँ, यही जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा है।

इस घटना को पन्द्रह वर्ष बीत गये हैं। लाला गोपीनाथ नित्य बारह बजे रात को आनन्दी के साथ बैठे हुए नज़र आते हैं। वह नाम पर मरते हैं, आनन्दी प्रेम पर। बदनाम दोनों हैं, लेकिन आनन्दी के साथ लोगों की सहानुभूति है, गोपीनाथ सब की निगाह से गिर गये हैं। हाँ, उनके कुछ आत्मीयगण इस घटना को केवल माननीय समझकर अब भी उनका सम्मान करते हैं, किन्तु जनता इतनी सहिष्णु नहीं है।

मृत्यु के पीछे

बाबू ईश्वरचंद्र को समाचार-पत्रों में लेख लिखने की चाट उन्हीं दिनों पड़ी, जब वह विद्याभ्यास कर रहे थे। नित्य नये विषयों की चिन्ता में लीन रहते। पत्रों में अपना नाम देखकर उन्हें उससे कहीं ज्यादा खुशी होती थी, जितनी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने या कक्षा में उच्च स्थान प्राप्त करने से। वह अपने कॉलेज के 'गरम दल' के नेता थे। समाचार-पत्रों में परीक्षा-पत्रों की जटिलता या अध्यापकों के अनुचित व्यवहार की शिकायत का भार उन्हीं के सिर था। इससे उन्हें कॉलेज में नेतृत्व का पद मिल गया था। प्रतिरोध के प्रत्येक अवसर पर उन्हीं के नाम नेतृत्व की गोटी पड़ जाती थी। उन्हें विश्वास हो गया था कि मैं इस परिमित क्षेत्र से निकलकर संसार के विस्तृत क्षेत्र में अधिक सफल हो सकता हूँ। सार्वजनिक जीवन को वह अपना भाग्य समझ बैठे थे। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि अभी एम० ए० के परीक्षार्थियों में उनका नाम निकलने भी न पाया कि 'गौरव' के सम्पादक महोदय ने वानप्रस्थ लेने की ठानी, और पत्रिका का भार ईश्वरचंद्र दत्त के सिर पर रखने का निश्चय किया। बाबूजी को यह समाचार मिला, तो उछल पड़े। धन्य भाग्य कि मैं इस सम्मान-पद के योग्य समझा गया! इसमें सन्देह नहीं कि वह

इस दायित्व के गुरुत्व से भली-भाँति परिचित थे, लेकिन कीर्ति-लाभ के प्रेम ने उन्हें बाधक परिस्थितियों का सामना करने पर उद्यत कर दिया। वह इस व्यवसाय में स्वातंत्र्य, आत्मगौरव, अनुशीलन और दायित्व की मात्रा को बढ़ाना चाहते थे। भारतीय पत्रों को पश्चिम के आदर्श पर लाने के इच्छुक थे। इन इरादों के पूरा करने का सुअवसर हाथ आया। वह प्रेमोल्लास से उत्तेजित होकर नदी में कूद पड़े।

(२)

ईश्वरचंद्र की पत्नी एक ऊँचे और धनाढ्य-कुल की लड़की थी, और ऐसे कुलों की मर्यादा-प्रियता तथा मिथ्या गौरव-प्रेम से संपन्न थी। यह समाचार पाकर डरी कि पति महाशय कहीं इस झंझट में फँसकर कानून से मुँह न मोड़ लें। लेकिन जब बाबू साहब ने आश्वासन दिया कि यह कार्य उनके कानून के अभ्यास में बाधक न होगा, तो कुछ न बोली।

लेकिन ईश्वरचंद्र को बहुत जल्द मालूम हो गया कि पत्र-सम्पादन एक बहुत ही ईर्ष्या-युक्त कार्य है, जो चित्त की समग्र वृत्तियों का अपहरण कर लेता है। उन्होंने इसे मनोरंजन का एक साधन और ख्याति-लाभ का एक यन्त्र समझा था—उसके द्वारा जाति की कुछ सेवा करना चाहते थे। उससे द्रव्योपार्जन का विचार तक न किया था। लेकिन नौका में बैठकर उन्हें अनुभव हुआ कि यात्रा उतनी सुखद नहीं, जितनी समझी थी। लेखों के संशोधन, परिवर्द्धन, और परिवर्तन, लेखकगण से पत्र-व्यवहार, और चित्ताकर्षक विषयों की खोज और सहयोगियों से आगे बढ़ जाने की चिन्ता में उन्हें कानून के अध्ययन करने का अवकाश ही न मिलता था। सुबह किताबें खोलकर बैठते कि सौ पृष्ठ समाप्त किये बिना कदापि न उठूँगा, किन्तु ज्योंही डाक का पुलिन्दा आ जाता, वह अधीर होकर उस पर टूट पड़ते, किताब खुली-की-खुली रह जाती थी। बार-बार संकल्प करते कि अब नियमित रूप से पुस्तकावलोकन करूँगा, और एक निर्दिष्ट समय से अधिक सम्पादन कार्य में न लगाऊँगा। लेकिन पत्र-पत्रिकाओं का बंडल सामने आते ही दिल काबू के बाहर हो जाता। पत्रों की नोक-झोंक, पत्रिकाओं के तर्क-वितर्क, आलोचना-प्रत्यालोचना, कवियों के काव्य-चमत्कार। लेखकों का रचना-कौशल इत्यादि

सभी बातें उन पर जादू का काम करतीं। इस पर छपाई की कठिनायाँ, ग्राहक-संख्या बढ़ाने की चिन्ता और पत्रिका को सर्वांग-सुन्दर बनाने की आकांक्षा और भी प्राणों को संकट में डाले रहती थी। कभी-कभी उन्हें खेद होता कि व्यर्थ ही इस झमेले में पड़ा। यहाँ तक कि परीक्षा के दिन सिर पर आ गये, और वह इसके लिए बिलकुल तैयार न थे। वह उसमें सम्मिलित न हुए। मन को समझाया कि अभी इस काम का श्रीगणेश है, इसी कारण ये सब बाधाएँ उपस्थित होती हैं। अगले वर्ष यह काम एक सुव्यवस्थित रूप में आ जायगा, और तब मैं निश्चिन्त होकर परीक्षा में बैठूँगा। पास कर लेना क्या कठिन है। ऐसे बुद्धू पास हो जाते हैं, जो एक सीधा-सा लेख भी नहीं लिख सकते, तो क्या मैं ही रह जाऊँगा। मानकी ने उनकी ये बातें सुनीं, तो खूब दिल के फफोले फोड़े। मैं तो जानती थी कि यह धुन तुम्हें मटियामेट कर देगी। इसी लिए बार-बार रोकती थी, लेकिन तुमने मेरी एक न सुनी। आप तो डूबे ही, मुझे भी ले डूबे। उनके पूज्य पिता भी बिगड़े, हितैषियों ने भी समझाया—अभी इस काम को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दो, कानून में उत्तीर्ण होकर निर्द्वन्द्व देशोद्धार में प्रवृत्त हो जाना। लेकिन ईश्वरचंद्र एक बार मैदान में आकर भागना निन्द्य समझते थे। हाँ, उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि दूसरे साल परीक्षा के लिए तन-मन से तैयारी करूँगा।

अतएव नये वर्ष के पदार्पण करते ही उन्होंने कानून की पुस्तकें संग्रह कीं, पाठ्य-क्रम निश्चित किया, रोज़नामचा लिखने लगे, और अपने चंचल और बहानेबाज़ चित्त को चारों ओर से जकड़ा, मगर चटपटे पदार्थों का आस्वादन करने के बाद सरल भोजन कब रुचिकर होता है। क़ानून में वे घातें कहाँ, वह उन्माद कहाँ, वे चोटें कहाँ, वह उत्तेजना कहाँ, वह हलचल कहाँ। बाबू साहब अब नित्य एक खोयी हुई दशा में रहते। जब तक अपने इच्छानुकूल काम करते थे, चौबीस घंटों में घंटे-दो घंटे कानून भी देख लिया करते थे। उस नशे ने मानसिक शक्तियों को शिथिल कर दिया। स्नायु निर्जीव हो गये। उन्हें ज्ञात होने लगा कि अब मैं क़ानून के लायक नहीं रहा, और इस ज्ञान ने क़ानून के प्रति उदासीनता का रूप धारण किया। मन में सन्तोषवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारब्ध और पूर्व-संस्कार के सिद्धान्तों की शरण लेने लगे।

एक दिन मानकी ने कहा—यह क्या बात है ? क्या क़ानून से फिर जी उचाट हुआ ?

ईश्वरचंद्र ने दुस्साहस-पूर्ण भाव से उत्तर दिया—हाँ, भई, मेरा जी उससे भागता है।

मानकी ने व्यंग्य से कहा—बहुत कठिन है ?

ईश्वरचंद्र—कठिन नहीं है, और कठिन भी होता, तो मैं उससे डरनेवाला न था, लेकिन मुझे वकालत का पेशा ही पतित प्रतीत होता है। ज्यों-ज्यों वकीलों की आन्तरिक दशा का ज्ञान होता है, मुझे इस पेशे से घृणा होती जाती है। इसी शहर में सैकड़ों वकील और बैरिस्टर पड़े हुए हैं, लेकिन एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं, जिसके हृदय में दया हो, जो स्वार्थपरता के हाथों बिक न गया हो। छल और धूर्तता इस पेशे का मूल-तत्व है। इसके बिना किसी तरह निर्वाह नहीं। अगर कोई महाशय जातीय आन्दोलन में शरीक भी होते हैं, तो स्वार्थ-सिद्धि के लिए, अपना ढोल पीटने के लिए। हम लोगों का समग्र जीवन वासना-भक्ति पर अर्पित हो जाता है। दुर्भाग्य से हमारे देश का शिक्षित-समुदाय इसी दरगाह का मुजाविर होता जाता है, और यही कारण है कि हमारी जातीय संस्थाओं की शीघ्र वृद्धि नहीं होती। जिस काम में हमारा दिल न हो, हम केवल ख्याति और स्वार्थ के लिए उसके कर्णधार बने हुए हों, वह कभी सफल नहीं हो सकता। यह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का अन्याय है, जिसने इस पेशे को इतना उच्च स्थान प्रदान कर दिया है। यह विदेशी सभ्यता का निकृष्टतम स्वरूप है कि देश का बुद्धिबल स्वयं धनोपार्जन न करके दूसरों की पैदा की हुई दौलत पर चैन करना, शहद की मक्खी न बनकर चींटी बनना अपने जीवन का लक्ष्य समझता है।

मानकी चिढ़कर बोली—पहले तो तुम वकीलों की इतनी निन्दा न करते थे।

ईश्वरचंद्र ने उत्तर दिया—तब अनुभव न था। बाहरी टीमटाम ने वशीकरण कर दिया था।

मानकी—क्या जाने तुम्हें पत्रों से क्यों इतना प्रेम है। मैं तो जिसे देखती हूँ, अपनी कठिनाइयों का रोना ही रोते हुए पाती हूँ। कोई अपने ग्राहकों से

नये ग्राहक बनाने का अनुरोध करता है, कोई चन्दा न वसूल होने की शिकायत करता है। बता दो कि कोई उच्च शिक्षा-प्राप्त मनुष्य कभी इस पेशे में आया है। जिसे कुछ नहीं सूझता, जिसके पास न कोई सनद है न कोई डिग्री, वही पत्र निकाल बैठता है, और भूखों मरने की अपेक्षा रूखी रोटियों पर ही सन्तोष करता है। लोग विलायत जाते हैं, कोई पढ़ता है डॉक्टरी, कोई इंजीनियरी, कोई सिविल सर्विस। लेकिन आज तक न सुना कि कोई एडीटरी का काम सीखने गया हो। क्यों सीखे? किसी को क्या पड़ी है कि जीवन की महत्त्वाकांक्षाओं को खाक में मिलाकर त्याग और विराग में उम्र काटे। हाँ, जिनको सनक सवार हो गयी, उनकी बात निराली है।

ईश्वरचंद्र—जीवन का उद्देश्य केवल धन-संचय करना ही नहीं है।

मानकी—अभी तुमने वकीलों की निन्दा करते हुए कहा, ये लोग दूसरों की कमाई खाकर मोटे होते हैं। पत्र चलानेवाले भी तो दूसरों की ही कमाई खाते हैं।

ईश्वरचंद्र ने बगलें झाँकते हुए कहा—हम लोग दूसरों की कमाई खाते हैं, तो दूसरों पर जान भी देते हैं। वकीलों की भाँति किसी को लूटते नहीं।

मानकी—यह तुम्हारी हठधर्मी है। वकील भी तो अपने मुवक्किलों के लिए जान लड़ा देते हैं। उनकी कमाई भी उतनी ही हलाल है, जितनी पत्रवालों की। अन्तर केवल इतना है कि एक की कमाई पहाड़ी सोता है, दूसरे की बरसाती नाला। एक में नित्य जल-प्रवाह होता है, दूसरे में नित्य धूल उड़ा करती है। बहुत हुआ, तो बरसात में घड़ी-दो-घड़ी के लिए पानी आ गया।

ईश्वरचंद्र—पहले तो मैं यही नहीं मानता कि वकीलों की कमाई हलाल है, और मान भी लूँ, तो किसी तरह यह नहीं मान सकता कि सभी वकील फूलों की सेज पर सोते हैं। अपना-अपना भाग्य सभी जगह है। कितने ही वकील हैं, जो झूठी गवाहियाँ देकर पेट पालते हैं। इस देश में समाचार-पत्रों का प्रचार अभी बहुत कम है, इसी कारण पत्र-संचालकों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। योरप और अमेरिका में पत्र चलाकर लोग करोड़पति हो गये हैं। इस समय संसार के सभी समुन्नत देशों के सूत्रधार या तो समाचार-पत्रों के संपादक और लेखक हैं, या पत्रों के स्वामी। ऐसे कितने ही अरबपति हैं,

जिन्होंने अपनी सम्पत्ति की नींव पत्रों पर ही खड़ी की थी....।

ईश्वरचंद्र सिद्ध करना चाहते थे कि धन, ख्याति और सम्मान प्राप्त कर का पत्र-संचालन से उत्तम और कोई साधन नहीं; और सबसे बड़ी बात तो य है कि इसी जीवन में सत्य और न्याय की रक्षा करने के सच्चे अवसर मिलते हैं परन्तु मानकी पर इस वक्तृता का ज़रा भी असर न हुआ। स्थूल-दृष्टि क दूर की चीज़ें साफ़ नहीं दिखायी देतीं। मानकी के सामने सफल सम्पादक क कोई उदाहरण न था।

(३)

सोलह वर्ष गुज़र गये। ईश्वरचंद्र ने सम्पादकीय जगत में खूब नाम पैद किया, जातीय आन्दोलनों में अग्रसर हुए, पुस्तकें लिखीं, एक दैनिक प निकाला, अधिकारियों के भी सम्मान-पात्र हुए। बड़ा लड़का बी० ए० में ज पहुँचा, छोटे लड़के नीचे के दरजों में थे। एक लड़की का विवाह भी एक धन-सम्पन्न कुल में किया! विदित यही होता था कि उनका जीवन बड़ ही सुखमय है। मगर उनकी आर्थिक दशा अब भी सन्तोषजनक न थी। खर्च आमदनी से बढ़ा हुआ था। घर की कई हज़ार की जायदाद हाथ से निकल गयी, इस पर भी बैंक का कुछ-न-कुछ देना सिर पर सवार रहता था। बाज़ा में भी उनकी साख न थी। कभी-कभी तो यहाँ तक नौबत आ जाती कि उन् बाज़ार का रास्ता छोड़ना पड़ता। अब वह अक्सर अपनी युवावस्था क अदूरदर्शिता पर अफ़सोस करते थे, जातीय सेवा का भाव अब भी उनके हृद में तरंगें मारता था, लेकिन काम तो वह करते थे और यश वकीलों और सेठ के हिस्सों में आ जाता था। उनकी गिनती अभी तक छुटभैयों में थी। यद्यपि सारा नगर जानता था कि यहाँ के सार्वजनिक जीवन के प्राण वही हैं, प उनका यथार्थ सम्मान न होता था इन्हीं कारणों से ईश्वरचंद्र को अब सम्पा दन-कार्य से अरुचि होती थी। दिनोंदिन उनका उत्साह क्षीण होता जात था, लेकिन इस जाल से निकलने का कोई उपाय न सूझता था। उनकी रचना में अब सजीवता न थी, न लेखनी में शक्ति। उनके पत्र और पत्रिका, दोनों ही से उदासीनता का भाव झलकता था। उन्होंने सारा भार सहायकों पर छोड़ दिया था, खुद बहुत कम काम करते थे। हाँ, दोनों पत्रों की जड़ जम चुकी

थी, इसलिए ग्राहक-संख्या कम न होने पाती थी। वे अपने नाम पर चलते थे।

लेकिन इस संघर्ष और संग्राम के काल में उदासीनता का निर्वाह कहाँ। 'गौरव' के कई प्रतियोगी खड़े हो गये, जिनके नवीन उत्साह ने 'गौरव' से बाज़ी मार ली। उसका बाज़ार ठंडा होने लगा। नये प्रतियोगियों का जनता ने बड़े हर्ष से स्वागत किया। उनकी उन्नति होने लगी। यद्यपि उनके सिद्धान्त भी वही, लेखक भी वही, विषय भी वही थे, लेकिन आगन्तुकों ने उन्हीं पुरानी बातों में नयी जान डाल दी। उनका उत्साह देख ईश्वरचंद्र को भी जोश आया कि एक बार फिर अपनी रुकी हुई गाड़ी में ज़ोर लगाऊँ, लेकिन न अपने में सामर्थ्य थी, न कोई हाथ बटानेवाला नज़र आता था। इधर-उधर निराश नेत्रों से देखकर हतोत्साह हो जाते थे। हा ! मैंने अपना सारा जीवन सार्वजनिक कार्यों में व्यतीत किया, खेत बोया, सींचा, दिन को दिन और रात को रात न समझा, धूप में जला, पानी में भीगा, और इतने परिश्रम के बाद जब फसल काटने के दिन आये, तो मुझमें हँसिया पकड़ने का भी बूता नहीं। दूसरे लोग, जिनका उस समय कहीं पता न था, अनाज काट-काटकर खलिहान भरे लेते हैं, और मैं खड़ा मुँह ताकता हूँ। उन्हें पूरा विश्वास था कि अगर कोई उत्साह-शील युवक मेरा शरीक हो जाता, तो 'गौरव' अब भी अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर सकता था। सभ्य-समाज में उनकी धाक जमी हुई थी, परिस्थिति उनके अनुकूल थी। ज़रूरत केवल ताज़े खून की थी। उन्हें अपने बड़े लड़के से ज्यादा उपयुक्त इस काम के लिए और कोई न दिखायी देता था। उसकी रुचि भी इस काम की ओर थी, पर मानकी के भय से वह इस विचार को ज़बान पर न ला सके थे। इसी चिन्ता में दो साल गुज़र गये, और यहाँ तक नौबत पहुँची कि या तो 'गौरव' का टाट उलट दिया जाय, या उसे फिर सँभाला जाय। ईश्वरचंद्र ने इसके पुनरुद्धार के लिए अंतिम उद्योग करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। इसके सिवा और कोई उपाय न था। यह पत्रिका उनके जीवन का सर्वस्व थी। उसे बन्द करने की वह कल्पना भी न कर सकते थे। यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा न था, पर प्राण-रक्षा की स्वाभाविक इच्छा ने उन्हें अपना सब कुछ अपनी पत्रिका पर न्योछावर करने को उद्यत कर दिया। फिर दिन-के-दिन लिखने-पढ़ने में रत रहने लगे। एक क्षण के लिए

भी सिर न उठाते। 'गौरव' के लेखों में फिर सजीवता का उद्भव हुआ, विद्व जनों में फिर उसकी चर्चा होने लगी, सहयोगियों ने फिर उसके लेखों को उद्धृत करना शुरू किया, पत्रिकाओं में फिर उसकी प्रशंसा-सूचक आलोचनाएं निकलने लगीं। पुराने उस्ताद की ललकार फिर अखाड़े में गूँजने लगी।

लेकिन पत्रिका के पुनःसंस्कार के साथ उनका शरीर और भी जर्जर होने लगा। हृद्-रोग के लक्षण दिखायी देने लगे। रक्त की न्यूनता से मुख पर पीलापन छा गया। ऐसी दशा में वह सुबह-से-शाम तक अपने काम में लीन रहते। देश में धन और श्रम का संग्राम छिड़ा हुआ था। ईश्वरचंद्र की सदय प्रकृति ने उन्हें श्रम का सपक्षी बना दिया था। धन-वादियों का खंडन और प्रतिवाद करते हुए उनके खून में गरमी आ जाती थी, शब्दों से चिनगारियाँ निकलने लगती थीं, यद्यपि वे चिनगारियाँ केन्द्रस्थ गरमी को छिन्न किये देती थी।

एक दिन रात के दस बज गये थे। सरदी खूब पड़ रही थी। मानकी दबे पैर उनके कमरे में आयी। दीपक ज्योति में उनके मुख का पीलापन और भी स्पष्ट हो गया था। वह हाथ में कलम लिये किसी विचार में मग्न थे। मानकी के आने की उन्हें ज़रा भी आहट न मिली, मानकी एक क्षण तक उन्हें वेदना-युक्त नेत्रों से ताकती रही। तब बोली—अब तो यह पोथा बन्द करो। आधी रात होने को आयी। खाना पानी हुआ जाता है।

ईश्वरचंद्र ने चौंककर सिर उठाया और बोले—क्यों, क्या आधी रात हो गयी ? नहीं, अभी मुश्किल से दस बजे होंगे। मुझे अभी ज़रा भी भूख नहीं

मानकी—कुछ थोड़ा-सा खा लेना।

ईश्वरचंद्र—एक ग्रास भी नहीं। मुझे इसी समय अपना लेख समाप्त करना है।

मानकी—मैं देखती हूँ, तुम्हारी दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती है, दवा क्यों नहीं करते ? जान खपाकर थोड़े ही काम किया जाता है।

ईश्वरचंद्र—अपनी जान को देखूँ या इस घोर संग्राम को, जिसने समस्त देश में हलचल मचा रखी है। हजारों-लाखों जानों की हिमायत में एक जान न भी रहे, तो क्या चिन्ता ?

मानकी—कोई सुयोग्य सहायक क्यों नहीं रख लेते ?

ईश्वरचंद्र ने ठंडी साँस लेकर कहा—बहुत खोजता हूँ, पर कोई नहीं मिलता। एक विचार कई दिनों से मेरे मन में उठ रहा है, अगर तुम धैर्य देकर सुनना चाहो, तो कहूँ।

मानकी—कहो, मानने लायक होगा, तो मानूँगी क्यों नहीं ?

ईश्वरचंद्र—मैं चाहता हूँ कि कृष्णचंद्र को अपने काम में शरीक कर लूँ। अब तो वह एम० ए० भी हो गया। इस पेशे से उसे रुचि भी है। मालूम होता है ईश्वर ने उसे इसी काम के लिए बनाया है।

मानकी ने अवहेलना-भाव से कहा—क्या अपने साथ उसे भी ले डूबने का इरादा है ? कोई घर की सेवा करनेवाला भी चाहिए कि सब देश की ही सेवा करें।

ईश्वरचंद्र—कृष्णचंद्र यहाँ बुरा न रहेगा।

मानकी—क्षमा कीजिए। बाज आयी। वह कोई दूसरा काम करेगा, जहाँ चार पैसे मिलें। यह घर-फूँक काम आप ही को मुबारक रहे।

ईश्वरचंद्र—वकालत में भेजोगी, पर देख लेना, पछताना पड़ेगा। कृष्ण-चंद्र उस पेशे के लिए सर्वथा अयोग्य है।

मानकी—वह चाहे मजूरी करे, पर इस काम में न डालूँगी।

ईश्वरचंद्र—तुमने मुझे देखकर समझ लिया कि इस काम में घाटा-ही-घाटा है। पर इसी देश में ऐसे भाग्यवान् लोग मौजूद हैं, जो पत्रों की बदौलत धन और कीर्ति से मालामाल हो रहे हैं।

मानकी—इस काम में अगर कंचन भी बरसे, तो मैं कृष्ण को न आने दूँ। सारा जीवन वैराग्य में कट गया। अब कुछ दिन भोग भी करना चाहती हूँ।

यह जाति का सच्चा सेवक अन्त को जातीय कष्टों के साथ रोग के कष्टों को न सह सका। इस वार्त्तालाप के बाद मुश्किल से नौ महीने गुजरे थे कि ईश्वचंद्र ने संसार से प्रस्थान किया। उनका सारा जीवन सत्य के पोषण, न्याय की रक्षा और अन्याय के विरोध में कटा था। अपने सिद्धान्तों के पालन में उन्हें कितनी ही बार अधिकारियों की तीव्र दृष्टि का भाजन बनना पड़ा था,

कितनी ही बार जनता का अविश्वास, यहाँ तक कि मित्रों की अवहेलना भी सहनी पड़ी थी; पर उन्होंने अपनी आत्मा का कभी खून नहीं किया। आत्मा के गौरव के सामने धन को कुछ न समझा।

इस शोक-समाचार के फैलते ही सारे शहर में कुहराम मच गया। बाजार बंद हो गये, शोक के जलसे होने लगे, सहयोगी पत्रों ने प्रतिद्वंद्विता के भाव को त्याग दिया, चारों ओर से एक ध्वनि आती थी कि देश से एक स्वतन्त्र, सत्यवादी और विचारशील सम्पादक तथा एक निर्भीक, त्यागी, देशभक्त उठ गया, और उसका स्थान चिरकाल तक खाली रहेगा। ईश्वरचंद्र इतने बहुजन-प्रिय हैं, इसका उनके घरवालों को ध्यान भी न था। उनका शव निकला, तो सारा शहर अरथी के साथ था। उनके स्मारक बनने लगे। कहीं छात्र-वृत्तियाँ दी गयीं, कहीं उनके चित्र बनवाये गये, पर सबसे अधिक महत्त्वशाली वह मूर्ति थी, जो श्रमजीवियों की ओर से उनकी स्मृति में प्रतिष्ठित हुई थी।

मानकी को अपने पतिदेव का लोक-सम्मान देखकर सुखमय कुतूहल होता था। उसे अब खेद होता था कि मैंने उनके दिव्य गुणों को न पहचाना, उनके पवित्र भावों और उच्च विचारों की क़दर न की। सारा नगर उनके लिए शोक मना रहा है। उनकी लेखनी ने अवश्य इनके ऐसे उपकार किये हैं, जिन्हें ये भूल नही सकते; और मैं अन्त तक उनके मार्ग का कंटक बनी रही, सदैव तृष्णावश उनका दिल दुखाती रही। उन्होंने मुझे सोने में मढ़ दिया होता, एक भव्य भवन बनवाया होता, या कोई ज़ायदाद पैदा कर ली होती, तो मैं खुश होती, अपना धन्य भाग्य समझती। लेकिन तब देश में कौन उनके लिए आँसू बहाता, कौन उनका यश गाता! यहीं एक-से-एक धनिक पुरुष पड़े हैं। वे दुनिया से चले जाते हैं, और किसी को खबर भी नहीं होती। सुनती हूँ, पतिदेव के नाम से छात्रों को वृत्ति दी जायगी। जो लड़के वृत्ति पाकर विद्या-लाभ करेंगे, वे मरते-दम तक उनकी आत्मा को आशीर्वाद देंगे। शोक! मैंने उनके आत्म-त्याग का मर्म न जाना। स्वार्थ ने मेरी आँखों पर परदा डाल दिया था।

मानकी के हृदय में ज्यों-ज्यों ये भावनाएँ जाग्रत होती जाती थीं, उसे पति में श्रद्धा बढ़ती जाती थी। वह गौरवशीला स्त्री थी। इस कीर्ति-गान और

जन-सम्मान से उसका मस्तक ऊँचा हो जाता था। इसके उपरान्त अब उसकी आर्थिक दशा पहले की-सी चिन्ताजनक न थी। कृष्णचंद्र के असाधारण अध्यवसाय और बुद्धि-बल ने उनकी वकालत को चमका दिया था। वह जातीय कामों में अवश्य भाग लेते थे, पत्रों में यथाशक्ति लेख भी लिखते थे, इस काम से उन्हें विशेष प्रेम था। लेकिन मानकी उन्हें हमेशा इन कामों से दूर रखने की चेष्टा करती रहती थी। कृष्णचंद्र अपने ऊपर जब्र करते थे। मा का दिल दुखाना उन्हें मंजूर न था।

ईश्वरचंद्र की पहली बरसी थी। शाम को ब्रह्मभोज हुआ। आधी रात तक ग़रीबों को खाना दिया गया। प्रातःकाल मानकी अपनी सेजगाड़ी पर बैठकर गंगा नहाने गयी। यह उसकी चिर-संचित अभिलाषा थी, जो अब पुत्र की मातृ-भक्ति ने पूरी कर दी थी। वह उधर से लौट रही थी कि उसके कानों में बैंड की आवाज आयी, और एक क्षण बाद एक जलूस सामने आता हुआ दिखायी दिया। पहले कोतल घोड़ों की माला थी, उनके बाद अश्वारोही स्वयं-सेवकों की सेना, उसके पीछे सैकड़ों सवारी गाड़ियाँ थीं। सबके पीछे एक सजे हुए रथ पर किसी देवता की मूर्ति थी। कितने ही आदमी इस विमान को खींच रहे थे। मानकी सोचने लगी—यह किस देवता का विमान है? न रामलीला के ही दिन हैं, न रथ के। सहसा उसका दिल जोर से उछल पड़ा। यह ईश्वरचंद्र की मूर्ति थी जो श्रमजीवियों की ओर से बनवायी गयी थी, और लोग उसे बड़े मैदान में स्थापित करने को लिये जाते थे। वही स्वरूप था, वही वस्त्र, वही मुखाकृति। मूर्तिकार ने विलक्षण कौशल दिखाया था। मानकी का हृदय बाँसों उछलने लगा। उत्कंठा हुई कि परदे से निकलकर इस जलूस के सम्मुख पति के चरणों पर गिर पड़ूँ। पत्थर की मूर्ति मानव-शरीर से अधिक श्रद्धास्पद होती है। किन्तु कौन मुँह लेकर मूर्ति के सामने जाऊँ? उसकी आत्मा ने कभी उसका इतना तिरस्कार न किया था। मेरी धन-लिप्सा उनके पैरों की बेड़ी न बनती, तो वह न-जाने किस सम्मान-पद पर पहुँचते? मेरे कारण उन्हें कितना क्षोभ हुआ। घरवालों की सहानुभूति बाहरवालों के सम्मान से कहीं उत्साहजनक होती है। मैं इन्हें क्या कुछ न बना सकती थी, पर कभी उभरने न दिया। स्वामी, मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हारी अपराधिनी हूँ,

मैंने तुम्हारे पवित्र भावों की हत्या की है, मैंने तुम्हारी आत्मा को दुःखी किया है। मैंने बाज को पिंजड़े में बन्द करके रखा था। शोक !

सारे दिन मानकी को यही पश्चात्ताप होता रहा। शाम को उससे न रह गया। यह अपनी कहारिन को लेकर पैदल उस देवता के दर्शन को चली, जिसकी आत्मा को उसने दुःख पहुँचाया था।

सन्ध्या का समय था। आकाश पर लालिमा छायी हुई थी। अस्ताचल की ओर कुछ बादल भी हो आये थे। सूर्यदेव कभी मेघ-पेट में छिप जाते थे, कभी बाहर निकल आते थे। इस धूपछाँह में ईश्वरचंद्र की मूर्ति दूर से कभी प्रभात की भाँति प्रसन्नमुख और कभी सन्ध्या की भाँति मलिन देख पड़ती थी। मानकी उसके निकट गयी, पर उसके मुख की ओर न देख सकी। उन आँखों में करुण-वेदना थी। मानकी को ऐसा मालूम हुआ, मानो वह मेरी ओर तिरस्कार-पूर्ण भाव से देख रही है। उसकी आँखों से ग्लानि और लज्जा के आँसू बहने लगे। वह मूर्ति के चरणों पर गिर पड़ी, और मुँह ढाँपकर रोने लगी। मन के भाव द्रवित हो गये।

वह घर आयी, तो नौ बज गये थे। कृष्णचंद्र उसे देखकर बोले—अम्मा, आज आप इस वक्त कहाँ गयी थीं ?

मानकी ने हर्ष से कहा—गयी थी तुम्हारे बाबूजी की प्रतिमा के दर्शन करने। ऐसा मालूम होता है, वह साक्षात् खड़े हैं।

कृष्णचंद्र—जयपुर से बनकर आयी है।

मानकी—पहले तो लोग उनका इतना आदर न करते थे।

कृष्णचंद्र—उनका सारा जीवन सत्य और न्याय की वकातल में गुजरा है। ऐसे महात्माओं की पूजा होती है।

मानकी—लेकिन उन्होंने वकातल कब की ?

कृष्णचंद्र—हाँ, यह वकालत नहीं की, जो मैं और मेरे हजारों भाई कर रहे हैं, जिससे न्याय और धर्म का खून हो रहा है। उनकी वकालत उच्च कोटि की थी।

मानकी—अगर ऐसा है, तो तुम भी वही वकालत क्यों नहीं करते ?

कृष्णचंद्र—बहुत कठिन है। दुनिया का जंजाल अपने सिर लीजिए,

दूसरों के लिए रोइए, दीनों की रक्षा के लिए लट्ठ लिये फिरिए, अधिकारियों के मुँह आइए, उनका क्रोध और कोप सहिए, और इस कष्ट, अपमान और यंत्रणा का पुरस्कार क्या है? अपनी नवीनाभिलाषाओं की हत्या।

मानकी—लेकिन यश तो होता है।

कृष्णचंद्र—हाँ, यश होता है, लोग आर्शीर्वाद देते हैं।

मानकी—जब इतना यश मिलता है, तो तुम भी वही काम करो। हम लोग उस पवित्र आत्मा की और कुछ सेवा नहीं कर सकते, तो उसी वाटिका को सींचते जायँ, जो उन्होंने अपने जीवन में इतने उत्सर्ग और भक्ति से लगायी। इससे उनकी आत्मा को शान्ति मिलेगी।

कृष्णचंद्र ने माता को श्रद्धामय नेत्रों से देखकर कहा—करूँ तो, मगर संभव है, तब यह टीम-टाम न निभ सके; शायद फिर वही पहले की-सी दशा हो जाय।

मानकी—कोई हरज नहीं। संसार में यश तो होगा। आज तो अगर धन की देवी भी मेरे सामने आये, तो मैं आँखें न नीची करूँ।

यही मेरी मातृभूमि है

आज पूरे साठ वर्ष के बाद मुझे मातृभूमि, प्यारी मातृभूमि के दर्शन प्राप्त हुए हैं। जिस समय मैं अपने प्यारे देश से बिदा हुआ था, और भाग्य मुझे पश्चिम की ओर ले चला था, उस समय मैं पूर्ण युवा था। मेरी नसों में नवीन रक्त संचालित हो रहा था। हृदय उमगों और बड़ी-बड़ी आशाओं से भरा हुआ था। मुझे अपने प्यारे भारतवर्ष के किसी अत्याचारी के अत्याचार या न्याय के बलवान हाथों ने नहीं जुदा किया था। अत्याचारी के अत्याचार और कानून की कठोरताएँ मुझसे जो चाहें करा सकती हैं, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि मुझसे नहीं छुड़ा सकतीं। वे मेरी उच्च अभिलाषाएँ और बड़े-बड़े ऊँचे विचार ही थे, जिन्होंने मुझे देश-निकाला दिया था।

मैंने अमरीका जाकर वहाँ खूब व्यापार किया, और व्यापार से धन भी खूब पैदा किया, तथा धन से आनन्द भी खूब मनमाने लूटे। सौभाग्य से पत्नी भी ऐसी मिली, जो सौन्दर्य में अपना सानी आप ही थी। उसकी लावण्यता और सुन्दरता की ख्याति तमाम अमरीका में फैली थी। उसके हृदय में ऐसे विचार की गुंजायश भी न थी, जिसका सम्बन्ध मुझसे न हो। मैं उस पर मन से आसक्त था, और वह मेरी सर्वस्व थी। मेरे पाँच पुत्र थे, जो सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट और ईमानदार थे। उन्होंने व्यापार को और भी चमका दिया था। मेरे भोले-भाले नन्हें-नन्हें पौत्र गोद में बैठे हुए थे, जब कि मैंने अनन्त धन, प्रियतमा पत्नी, सपूत बेटे और प्यारे-प्यारे जिगर के टुकड़े, नन्हें-नन्हें बच्चे आदि अमूल्य पदार्थ केवल इसी लिए परित्याग कर दिये कि प्यारी भारत-जननी के अन्तिम दर्शन कर लूँ। मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ; दस वर्ष के बाद पूरे सौ वर्ष का हो जाऊँगा। अब मेरे हृदय में केवल एक ही अभिलाषा बाकी है कि मैं अपनी मातृभूमि का रज-कण बनूँ।

यह अभिलाषा कुछ आज ही मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि उस समय भी थी, जब मेरी प्यारी पत्नी अपनी मधुर बातों और कोमल कटाक्षों से मेरे हृदय को प्रफुल्लित किया करती थी, और जब कि मेरे युवा पुत्र प्रातःकाल आकर अपने वृद्ध पिता को सभक्ति प्रणाम करते, उस समय भी मेरे हृदय में एक काँटा-सा खटकता रहता था कि मैं अपनी मातृभूमि से अलग हूँ। यह देश मेरा देश नहीं है, और मैं इस देश का नहीं हूँ।

मेरे धन था, पत्नी थी, लड़के थे और जायदाद थी; मगर न-मालूम क्यों मुझे रह-रहकर मातृभूमि के टूटे-फूटे झोपड़े, चार-छः बीघे मौरूसी ज़मीन और बालपन के लँगोटिये यारों की याद अक्सर सता जाया करती। प्रायः अपार प्रसन्नता और आनन्दोत्सवों के अवसर पर भी यह विचार हृदय में चुटकी लिया करता था कि यदि मैं अपने देश में होता....!

(२)

जिस समय मैं बम्बई में जहाज से उतरा, मैंने पहले काले-काले, कोट-पतलून पहने, टूटी-फूटी अँगरेजी बोलते हुए मल्लाह देखे। फिर अँगरेजी दूकानें, ट्राम और मोटर-गाड़ियाँ दिखायी पड़ीं। इसके बाद रबर-टायरवाली गाड़ियों

और मुँह में चुरट दाबे हुए आदमियों से मुठभेड़ हुई। फिर रेल का विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन देखा। बाद में रेल पर सवार होकर हरी-हरी पहाड़ियों के मध्य में स्थित अपने गाँव को चल दिया। उस समय मेरी आँखों में आँसू भर आये, और मैं खूब रोया, क्योंकि यह मेरा देश न था। यह वह देश न था, जिसके दर्शनों की इच्छा सदा मेरे हृदय में लहराया करती थी। यह तो कोई और देश था। यह अमेरिका या इंगलैंड था, मगर प्यारा भारत नहीं।

रेलगाड़ी जंगलों, पहाड़ों, नदियों और मैदानों को पार करती हुई मेरे प्यारे गाँव के निकट पहुँची, जो किसी समय फूल, पत्तों और फलों की बहुतायत तथा नदी-नालों की अधिकता से स्वर्ग को मात कर रहा था। मैं जब गाड़ी से उतरा, तो मेरा हृदय बाँसों उछल रहा था। अब अपना प्यारा घर देखूँगा—अपने बालपन के प्यारे साथियों से मिलूँगा। मैं इस समय बिलकुल भूल गया था कि मैं ९० वर्ष का बूढ़ा हूँ। ज्यों-ज्यों मैं गाँव के निकट आता था, मेरे पग तेज होते जाते थे, और हृदय में अकथनीय आनन्द का स्रोत उमड़ रहा था। प्रत्येक वस्तु पर आँखें फाड़-फाड़कर दृष्टि डालता। आह! यह वही नाला है जिसमें हम रोज घोड़े नहलाते थे और स्वयं भी डुबकियाँ लगाते। किन्तु अब उसके दोनों ओर काँटेदार तार लगे हुए थे, और सामने एक बँगला था, जिसमें दो अँगरेज बन्दूकें लिये इधर-उधर ताक रहे थे। नाले में नहाने की सख्त मनाही थी।

गाँव में गया, और निगाहें बालपन के साथियों को खोजने लगीं; किन्तु शोक! वे सब-के-सब मृत्यु के ग्रास हो चुके थे। मेरा घर—मेरा टूटा-फूटा झोपड़ा—जिसकी गोद में मैं बरसों खेला था, जहाँ बचपन और बेफिक्री के आनन्द लूटे थे, और जिनका चित्र अभी तक मेरी आँखों में फिर रहा था, वही मेरा प्यारा घर अब मिट्टी का ढेर हो गया था।

(३)

यह स्थान गैर-आबाद न था। सैकड़ों आदमी चलते-फिरते नजर आते थे, जो अदालत-कचहरी और थाना-पुलिस की बातें कर रहे थे। उनके मुखों से चिन्ता, निर्जीवता और उदासी प्रदर्शित होती थी। सब सांसारिक चिन्ताओं से व्यथित मालूम होते थे। मेरे साथियों के समान हृष्ट-पुष्ट, बलवान्, लाल चेहरेवाले नवयुवक कहीं न देख पड़ते थे। उस अखाड़े के स्थान पर, जिसकी

जड़ मेरे हाथों ने डाली थी, अब एक टूटा-फूटा स्कूल था। उसमें दुर्बल, क्रान्ति-हीन, रोगियों की-सी सूरतवाले बालक, फटे कपड़े पहने, बैठे ऊँघ रहे थे। उनको देखकर सहसा मेरे मुख से निकल पड़ा—'नहीं नहीं, यह मेरा प्यारा देश नहीं है। यह देश देखने मैं इतनी दूर से नहीं आया हूँ—यह मेरा प्यारा भारतवर्ष नहीं है।'

बरगद के पेड़ की ओर दौड़ा, जिसकी सुहावनी छाया में मैंने बचपन के आनन्द उड़ाये थे, जो हमारे छुटपन का क्रीड़ा-स्थल और युवावस्था का सुख-प्रद कुंज था। आह ! इस प्यारे बरगद को देखते ही हृदय पर एक बड़ा आघात पहुँचा, और दिल में महान् शोक उत्पन्न हुआ। उसे देखकर ऐसी-ऐसी दुःख-दायक तथा हृदय-विदारक स्मृतियाँ ताजी हो गयीं कि घंटों पृथ्वी पर बैठे-बैठे मैं आँसू बहाता रहा। हा ! यही बरगद है, जिसकी डालों पर चढ़कर मैं फुन-गियों तक पहुँचता था, जिसकी जटाएँ हमारा झूला थीं, और जिसके फल हमें सारे संसार की मिठाइयों से अधिक स्वादिष्ट मालूम होते थे। मेरे गले में बाँहें डालकर खेलनेवाले लँगोटिये यार, जो कभी रूठते थे, कभी मनाते थे, कहाँ गये ? हाय, मैं बिना घर-बार का मुसाफिर, अब क्या अकेला ही हूँ ? क्या मेरा कोई भी साथी नहीं ? इस बरगद के निकट अब थाना था, और बरगद के नीचे कोई लाल साफा बाँधे बैठा था। उसके आस-पास दस-बीस लाल पगड़ी-वाले आदमी करबद्ध खड़े थे। वहाँ फटे-पुराने कपड़े पहने एक दुर्भिक्ष-ग्रस्त पुरुष, जिस पर अभी चाबुकों की बौछार हुई थी, पड़ा सिसक रहा था। मुझे ध्यान आया कि यह मेरा प्यारा देश नहीं है, यह कोई और देश है। यह योरप है, अमरीका है, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि नहीं है—कदापि नहीं !

इधर से निराश होकर उस चौपाल की ओर चला, जहाँ शाम के वक्त पिताजी गाँव के अन्य बुजुर्गों के साथ हुक्का पीते और हँसी-क़हक़हे उड़ाते थे। कभी-कभी वहाँ पंचायत भी बैठती थी, जिसके सरपंच सदा पिताजी ही हुआ करते थे। इसी चौपाल के पास एक गोशाला थी, जहाँ गाँव-भर की गायें रखी जाती थीं, और बछड़ों के साथ हम यहीं कलोलें किया करते थे ! शोक ! अब उस चौपाल का पता तक न था ! वहाँ अब गाँवों में टीका लगाने की चौकी और डाकखाना था।

उस समय इसी चौपाल से लगा एक कोल्हवाड़ा था, जहाँ जाड़े के दिनों में ईख पेरी जाती थी, और गुड़ की सुगन्ध से चित्त प्रसन्न हो जाता था। हम और हमारे साथी गँडेरियों के लिए वहाँ बैठे रहते और गँडेरियाँ कतरनेवाले मज़दूरों के हस्त-लाघव को देखकर आश्चर्य किया करते थे। वहाँ हज़ारों बार मैंने कच्चा रस और पक्का दूध मिलाकर पिया था। आस-पास के घरों की स्त्रियाँ और बालक अपने-अपने घड़े लेकर वहाँ आते थे, और उनमें रस भर-कर ले जाते थे। शोक है कि वे कोल्हू अब तक ज्यों-के-त्यों खड़े थे, किन्तु कोल्हवाड़े की जगह पर अब एक सन लपेटनेवालो मशीन लगी थी, और उसके सामने एक तंबोली और सिगरेटवाले की दूकान थी। इन हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर मैंने एक आदमी से, जो देखने में सभ्य मालूम होता था, पूछा—महाशय, मैं एक परदेसी यात्री हूँ, रात-भर लेट रहने की मुझे आज्ञा दीजिएगा? इस आदमी ने मुझे सिर से पैर तक गहरी दृष्टि से देखा, और बोला—आगे जाओ, यहाँ जगह नहीं है। मैं आगे गया, और वहाँ भी यही उत्तर मिला। पाँचवीं बार एक सज्जन से स्थान माँगने पर उन्होंने एक मुट्ठी चने मेरे हाथ पर रख दिये। चने मेरे हाथ से छूट पड़े, और नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा बहने लगी। मुख से सहसा निकल पड़ा—हाय, यह मेरा देश नहीं है; यह कोई और देश है। यह हमारा अतिथि-सत्कारी प्यारा भारत नहीं है—कदापि नहीं है।

मैंने एक सिगरेट की डिबिया खरीदी और एक सुनसान जगह पर बैठ-कर सिगरेट पीते हुए पूर्व-समय की याद करने लगा। अचानक मुझे धर्मशाला का स्मरण हो आया, जो मेरे विदेश जाते समय बन रही थी। मैं उस ओर लपका कि रात किसी प्रकार वहीं काट लूँ; मगर शोक! शोक!! महान शोक!!! धर्मशाला ज्यों-का-त्यों खड़ी थी, किन्तु उसमें ग़रीब यात्रियों के टिकने के लिए स्थान न था। मदिरा, दुराचार और जुए ने उसे अपना घर बना रखा था। यह दशा देखकर विवशतः मेरे हृदय से एक सर्द आह निकल पड़ी, और मैं ज़ोर से चिल्ला उठा—नहीं, नहीं, नहीं और हजार बार नहीं है—यह मेरा प्यारा भारत नहीं। यह कोई और देश है। यह योरप है, अमेरिका है, मगर भारत कदापि नहीं है।

(४)

अँधेरी रात थी। गीदड़ और कुत्ते अपने कर्कश स्वर में गीत गा रहे थे मैं अपना दुःखित हृदय लेकर, उसी नाले के किनारे जाकर बैठ गया, और सोचने लगा—अब क्या करूँ? क्या फिर अपने पुत्रों के पास लौट जाऊँ, और अपना यह शरीर अमेरिका की मिट्टी में मिलाऊँ? अब तक मेरी मातृ-भूमि थी; मैं विदेश में ज़रूर था, किन्तु मुझे अपने प्यारे देश की याद बनी थी, पर अब मैं देश-विहीन हूँ? मेरा कोई देश नहीं है। इसी सोच-विचार में मैं बहुत देर तक घुटनों पर सिर रखे मौन बैठा रहा। रात्रि नेत्रों में ही व्यतीत की। सहसा घंटेवाले ने तीन बजाये, और किसी के गाने का शब्द कानों में आया। हृदय गद्गद हो गया! यह तो देश का ही राग है, यह तो मातृभूमि का ही स्वर है! मैं तुरन्त उठ खड़ा हुआ, और क्या देखता हूँ कि १५-२० वृद्धा स्त्रियाँ, सफेद धोतियाँ पहने हाथों में लोटे लिये स्नान को जा रही हैं और गाती जाती हैं—

"हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो—"

मैं इस गीत को सुनकर तन्मय हो ही रहा था कि इतने में मुझे बहुत आदमियों का बोलचाल सुन पड़ा। उनमें से कुछ लोग हाथों में पीतल के कमंडलु लिये हुए शिब-शिव, हर-हर, गंगे-गंगे, नारायण-नारायण आदि शब्द बोलते हुए चले जाते थे। मधुर, भावमय और प्रभावोत्पादक राग से मेरे हृदय पर जो प्रभाव हुआ, उसका वर्णन करना कठिन है।

मैंने अमेरिका की रमणियों का आलाप सुना था, सहस्त्रों बार उनकी जिह्वा से प्रेम और प्यार के शब्द सुने थे, उनके हृदयाकर्षक वचनों का आनन्द उठाया था, मैंने सुरीले पक्षियों का चहचहाना भी सुना था, किन्तु जो आनंद, जो मजा और जो सुख मुझे इस राग में आया, वह मुझे जीवन में कभी प्राप्त नहीं हुआ था। मैंने खुद गुनगुनाकर गाया—

"हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो—"

मेरे हृदय में फिर उत्साह आया कि ये तो मेरे प्यारे देश की ही बातें हैं। आनन्दातिरेक से मेरा हृदय आनन्दमय हो गया। मैं भी इन आदमियों के साथ हो लिया, और ६ मील तक पहाड़ी मार्ग पार करके उसी नदी के किनारे

पहुँचा, जिसका नाम पतित-पावनी है, जिसकी लहरों में डुबकी लगाना और जिसकी गोद में मरना प्रत्येक हिन्दू अपना परम सौभाग्य समझता है। पतित-पावनी भागीरथी गंगा मेरे प्यारे गाँव से छः-सात मील पर बहती थी। किसी समय मैं घोड़े पर चढ़कर नित्य स्नान करने जाता था। गंगामाता के दर्शनों की लालसा मेरे हृदय में सदा रहती थी। यहाँ मैंने हजारों मनुष्यों को इस ठंडे पानी में डुबकी लगाते हुए देखा। कुछ लोग बालू पर बैठे गायत्री-मन्त्र जप रहे थे। कुछ लोग हवन करने में संलग्न थे। कुछ माथे पर तिलक लगा रहे थे, और कुछ लोग सस्वर वेद-मन्त्र जप रहे थे। मेरा हृदय फिर उत्साहित हुआ, और मैं जोर से कह उठा—हाँ, हाँ, यही मेरा प्यारा देश है, यही मेरी पवित्र मातृभूमि है, यही मेरा सर्वश्रेष्ठ भारत है, और इसी के दर्शनों की मेरी उत्कट इच्छा थी! इसी की पवित्र धूलि के कण बनने की मेरी प्रबल अभि-लाषा है।

(५)

मैं विशेष आनन्द में मग्न था। मैंने अपना पुराना कोट और पतलून उतारकर फेंक दिया; और गंगामाता की गोद में जा गिरा, जैसे कोई भोला-भाला बालक दिन-भर निर्दय लोगों के साथ रहने के बाद सन्ध्या को अपनी प्यारी माता की गोद में दौड़कर चला आये, और उसकी छाती से चिपट जाय। हाँ अब मैं अपने देश में हूँ। यह मेरी प्यारी मातृभूमि है। ये लोग मेरे भाई हैं और गंगा मेरी माता है।

मैंने ठीक गंगा के किनारे एक छोटी-सी कुटी बनवा ली है। अब मुझे सिवा राम-नाम जपने के और कोई काम नहीं है। मैं नित्य प्रातः-सायं गंगा-स्नान करता हूँ, और मेरी प्रबल इच्छा है कि इसी स्थान पर मेरे प्राण निकलें और मेरी अस्थियाँ गंगामाता की लहरों की भेंट हों।

मेरी स्त्री और मेरे पुत्र बार-बार बुलाते हैं, मगर अब मैं यह गंगामाता का तट और अपना प्यारा देश छोड़कर वहाँ नहीं जा सकता। मैं अपनी मिट्टी गंगाजी को ही सौंपूँगा। अब संसार की कोई आकांक्षा मुझे इस स्थान से नहीं हटा सकती, क्योंकि यह मेरा देश और यही मेरी प्यारी मातृभूमि है। बस, मेरी उत्कट इच्छा यही है कि मैं अपनी प्यारी मातृभूमि में ही अपने प्राण विसर्जन करूँ।

लाग-डाट

जोखू भगत और बेचन चौधरी में तीन पीढ़ियों से अदावत चली आती थी कुछ डाँड़-मेंड़ का झगड़ा था। उनके परदादों में कई बार खून-खच्चर हुआ बापों के समय से मुकदमेबाजी शुरू हुई। दोनो कई बार हाईकोर्ट तक गये लड़कों के समय में संग्राम की भीषणता और भी बढ़ी। यहाँ तक कि दोनों ह अशक्त हो गये। पहले दोनो इसी गाँव में आधे-आधे के हिस्सेदार थे। अ उनके पास उस झगड़ेवाले खेत को छोड़कर अंगुल ज़मीन भी न थी। भूमि गयी, धन गया, मान-मर्यादा गयी; लेकिन वह विवाद ज्यों-का-त्यों बना रहा हाईकोर्ट के धुरन्धर नीतिज्ञ एक मामूली-सा झगड़ा तय न कर सके।

इन दोनों सज्जनों ने गाँव को दो विरोधी दलों में विभक्त कर दिय था। एक दल की भंग-बूटी चौधरी के द्वार पर छनती, तो दूसरे दल के चरस-गाँजे के दम भगत के द्वार पर लगते थे। स्त्रियों और बालकों के भी दो दल हो गये थे। यहाँ तक कि दोनो सज्जनों के सामाजिक और धार्मिक विचारो में भी विभाजक रेखा खिंची हुई थी। चौधरी कपड़े पहने सत्तू खा लेते और भगत को ढोंगी कहते। भगत बिना कपड़े उतारे पानी भी न पीते, और चौधरी को भ्रष्ट बतलाते। भगत सनातनधर्मी बने, तो चौधरी ने आर्य-समाज का आश्रय लिया। जिस बजाज, पंसारी या कुँजड़े से चौधरी सौदा लेते, उसकी ओर भगतजी ताकना भी पाप समझते थे। और भगतजी के हलवाई की मिठाइयाँ, उनके ग्वाले का दूध और तेली का तेल चौधरी के लिए त्याज्य थे। यहाँ तक कि उनके आरोग्य के सिद्धान्तों में भी भिन्नता थी। भगतजी वैद्यों के क़ायल थे, चौधरी युनानी प्रथा के माननेवाले। दोनो चाहे रोग से मर जाते, पर अपने सिद्धान्तों को न तोड़ते।

(२)

जब देश में राजनैतिक आन्दोलन शुरू हुआ, तो उसकी भनक उस गाँव में आ पहुँची। चौधरी ने आन्दोलन का पक्ष लिया, भगत उसके विपक्षी हो गये। एक सज्जन ने आकर गाँव में किसान-सभा खोली। चौधरी उसमें शरीक

हुए, भगत अलग रहे। जागृति बढ़ी, और स्वराज्य की चर्चा होने लगी। चौधरी स्वराज्यवादी हो गये, भगत ने राजभक्ति का पक्ष लिया। चौधरी का घर स्वराज्यवादियों का अड्डा हो गया, भगत का घर राजभक्तों का क्लब बन गया।

चौधरी जनता में स्वराज्यवाद का प्रचार करने लगे--मित्रो, स्वराज्य का अर्थ है अपना राज्य। अपने देश में अपना राज्य हो, तो वह अच्छा है कि किसी दूसरे का राज्य हो वह ?

जनता ने कहा—अपना राज्य हो, वह अच्छा है।

चौधरी—तो वह स्वराज्य कैसे मिलेगा ? आत्मबल से, पुरुषार्थ से, मेल से। एक दूसरे से द्वेष करना छोड़ दो। अपने झगड़े आप मिलकर निपटा लो।

एक शंका—आप तो नित्य अदालत में खड़े रहते हैं।

चौधरी—हाँ, पर आज से अदालत जाऊँ, तो मुझे गऊहत्या का पाप लगे। तुम्हें चाहिए कि तुम अपनी गाढ़ी कमाई अपने बाल-बच्चों को खिलाओ, और बचे, तो परोपकार में लगाओ; वकील-मुखतारों की जेब क्यों भरते हो, थानेदार को घूस क्यों देते हो, अमलों की चिरौरी क्यों करते हो ? हमारे लड़के अपने धर्म की शिक्षा पाते थे; वे सदाचारी, त्यागी, पुरुषार्थी बनते थे। अब वे विदेशी मदरसों में पढ़कर चाकरी करते हैं, घूस खाते हैं, शौक़ करते हैं। वे अपने देवताओं और पितरों की निन्दा करते हैं, सिगरेट पीते हैं, बाल बनाते हैं, और हकीमों की गोड़-धरिया करते हैं। क्या यह हमारा कर्त्तव्य नहीं है कि हम अपने बालकों को धर्मानुसार शिक्षा दें।

जनता—चन्दा करके पाठशाला खोलनी चाहिए।

चौधरी—हम पहले मदिरा छूना पाप समझते थे। अब गाढ़ी कमाई के करोड़ों रुपए गाँजा-शराब में उड़ा देते हैं।

जनता—जो दारू-भाँग पिये, उसे डाँड़ लगाना चाहिए।

चौधरी—हमारे दादा-बाबा, छोटे-बड़े सब गाढ़ा-गज़ी पहनते थे। हमारी दादियाँ-नानियाँ चरखा काता करती थीं। सब धन देश में रहता था, हमारे जुलाहे भाई चैन की वंशी बजाते थे। अब हम विदेश के बने हुए महीन, रंगीन कपड़ों पर जान देते हैं। इस तरह दूसरे देशवाले हमारा धन ढो ले

जाते हैं, बेचारे जुलाहे कंगाल हो गये। क्या हमारा यही धर्म है कि अपने भाइयों की थाली छीनकर दूसरों के सामने रख दें।

जनता—गाढ़ा कहीं मिलता ही नहीं।

चौधरी—अपने घर का बना हुआ गाढ़ा पहनो, अदालतें त्यागो, नशेबाज़ी छोड़ो, अपने लड़कों को धर्म-कर्म सिखाओ, मेल से रहो—बस, यही स्वराज्य है। जो लोग कहते हैं कि स्वराज्य के लिए खून की नदी बहेगी, वे पागल हैं—उनकी बातों पर ध्यान मत दो।

जनता ये बातें बड़े चाव से सुनती थी, और दिनोंदिन श्रोताओं की संख्या बढ़ती जाती थी। चौधरी सबके श्रद्धा-भाजन बन गये।

(३)

भगतजी राजभक्ति का उपदेश करने लगे—भाइयो, राजा का काम राज्य करना और प्रजा का काम उसकी आज्ञा-पालन करना है। इसी को राजभक्ति कहते हैं, और हमारे धार्मिक ग्रन्थों में हमें इसी राजभक्ति की शिक्षा दी गयी है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। उसकी आज्ञा के विरुद्ध चलना महान् पातक है। राजा का विमुख प्राणी नरक का भागी होता है।

एक शंका—राजा को भी तो अपने धर्म का पालन करना चाहिए।

दूसरी शंका—हमारे राजा तो नाम के हैं, असली राजा तो विलायत के बनिए-महाजन हैं।

तीसरी शंका—बनिए धन कमाना जानते हैं, राज्य करना क्या जानें!

भगत—लोग तुम्हें शिक्षा देते हैं कि अदालत में मत जाओ, पंचायत में मुकदमे ले जाओ; लेकिन ऐसे पञ्च कहाँ हैं, जो सच्चा न्याय करें, दूध का दूध और पानी का पानी कर दें। यहाँ मुँहदेखी बातें होंगी। जिनका दबाव है उनकी जीत होगी। जिनका कुछ दबाव नहीं है, वे बेचारे मारे जायँगे। अदालतों में सब काररवाई क़ानून पर होती है, वहाँ छोटे-बड़े सब बराबर हैं, शेर-बकरी सब एक घाट पानी पीते हैं।

एक शंका—अदालतों का न्याय कहने ही को है; जिसके पास बने हुए गवाह और दाँवपेंच खेले हुए वकील होते हैं, उसी की जीत होती है, झूठे-सच्चे की परख कौन करता है, हाँ, हैरानी अलबत्ता होती है।

भगत—कहा जाता है कि विदेशी चीजों का व्यवहार मत करो। यह गरीबों के साथ घोर अन्याय है। हमको बाजार में जो चीज़ सस्ती और अच्छी मिले, वह लेनी चाहिए। चाहे स्वदेशी हो या विदेशी। हमारा पैसा सेंत में नहीं आता है कि उसे रद्दी भद्दी स्वदेशी चीजों पर फेंकें।

एक शंका—अपने देश में तो रहता है, दूसरों के हाथ में तो नहीं जाता।

दूसरा शंका—अपने घर में अच्छा खाना न मिले, तो क्या विजातियों के घर का अच्छा भोजन खाने लगेंगे?

भगत—लोग कहते हैं, लड़कों को सरकारी मदरसों में मत भेजो। सरकारी मदरसों में न पढ़ते, तो आज हमारे भाई बड़ी-बड़ी नौकरियाँ कैसे पाते, बड़े-बड़े कारखाने कैसे बना लेते? बिना नयी विद्या पढ़े अब संसार में निबाह नहीं हो सकता, पुरानी विद्या पढ़कर पत्रा देखने और कथा बाँचने के सिवा और क्या आता है? राज-काज क्या पट्टी-पोथी बाँचनेवाले लोग करेंगे?

एक शंका—हमें राज-काज न चाहिए। हम अपनी खेती-बारी ही में मगन हैं, किसी के गुलाम तो नहीं।

दूसरी शंका—जो विद्या घमण्डी बना दे, उससे मूर्ख ही अच्छा। यही नयी विद्या पढ़कर तो लोग सूट-बूट, घड़ी-छड़ी, हैट-कोट लगाने लगते हैं, और अपने शौक के पीछे देश का धन विदेशियों की जेब में भरते हैं। ये देश के द्रोही हैं।

भगत—गाँजा शराब की ओर आजकल लोगों की कड़ी निगाह है। नशा बुरी लत है; इसे सब जानते हैं। सरकार को नशे की दूकानों से करोड़ों रुपए साल की आमदनी होती है। अगर दूकानों में न जाने से लोगों की नशे की लत छूट जाय, तो बड़ी अच्छी बात है। वह दूकान पर न जायगा, तो चोरी-छिपे किसी-न-किसी तरह दूने-चौगुने दाम देकर, सज़ा काटने पर तैयार होकर, अपनी लत पूरी करेगा। तो ऐसा काम क्यों करो कि सरकार का नुक़सान अलग हो और ग़रीब रैयत का नुक़सान अलग हो। फिर किसी-किसी को नशा खाने से फ़ायदा होता है। मैं ही एक दिन अफ़ीम न खाऊँ, तो गाँठों में दर्द होने लगे, दम उखड़ जाय, और सरदी पकड़ ले।

एक आवाज़—शराब पीने से बदन में फ़ुर्ती आ जाती है।

एक शंका—सरकार अधर्म से रुपया कमाती है। उसे यह उचित नहीं अधर्मी के राज्य में रहकर प्रजा का कल्याण कैसे हो सकता है?

दूसरी शंका—पहले दारू पिलाकर पागल बना दिया। लत पड़ी, तो पै की चाट हुई। इतनी मजूरी किसको मिलती है कि रोटी-कपड़ा भी चले, औ दारू-शाराब भी उड़े। या तो बाल-बच्चों को भूखो मारो या चोरी करो, जुव खेलो, और बेईमानी करो। शराब की दुकान क्या है, हमारी गुलामी का अड्ड है।

(४)

चौधरी के उपदेश सुनने के लिए जनता टूटती थी, लोगों को खड़े हो को जगह न मिलती। दिनोंदिन चौधरी का मान बढ़ने लगा। उनके यह नित्य पंचायतों और राष्ट्रोन्नति की चर्चा रहती। जनता को इन बातों में बड़ आनन्द और उत्साह होता। उसके राजनीतिक ज्ञान की वृद्धि होती। व अपना गौरव और महत्व समझने लगी, उसे अपनी सत्ता का अनुभव हो लगा। निरंकुशता और अन्याय पर अब उसकी त्योरियाँ चढ़ने लगीं। उ स्वतंत्रता का स्वाद मिला। घर की रुई, घर का सूत, घर का कपड़ा, घर क भोजन, घर की अदालत, न पुलिस का भय, न अमलों की खुशामद; सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत करने लगी। कितनों ने ही नशेबाज़ी छोड़ दी और सद्भावों की लहर-सी दौड़ने लगी।

लेकिन भगतजी इतने भाग्यशाली न थे। जनता को दिनोंदिन उनके उपदेशों से अरुचि होती जाती थी। यहाँ तक कि बहुधा उनके श्रोताओं में पटवारी, चौकीदार, मुदर्रिस और इन्हीं कर्मचारियों के मित्रों के अतिरिक्त और कोई न होता था। कभी-कभी बड़े हाकिम भी आ निकलते और भगतजी का बड़ा आदर-सत्कार करते, ज़रा देर के लिए भगतजी के आँसू पुँछ जाते लेकिन क्षण-भर का सम्मान आठों पहर के अपमान की बराबरी कैसे करता जिधर निकल जाते उधर ही उँगलियाँ उठने लगतीं। कोई कहता, खुशामदी टट्टू है; कोई कहता, खुफ़िया पुलिस का भेदी है। भगतजी अपने प्रतिद्वन्द्वी की बड़ाई और अपनी लोक-निन्दा पर दाँत पीस-पीसकर रह जाते थे। जीवन

में यह पहला ही अवसर था कि उन्हें सबके सामने नीचा देखना पड़ा। चिर-काल से जिस कुल-मर्यादा की रक्षा करते आये थे, और जिस पर अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे, वह धूल में मिल गयी। यह दाहमय चिन्ता उन्हें एक क्षण के लिए चैन न लेने देती। नित्य यही समस्या सामने रहती कि अपना खोया हुआ सम्मान क्योंकर पाऊँ? अपने प्रतिस्पर्द्धी को क्योंकर पद-दलित करूँ, उसका ग़रूर तोड़ूँ।

अन्त में उन्होंने सिंह को उसकी माँद में ही पछाड़ने का निश्चय किया।

(५)

सन्ध्या का समय था। चौधरी के द्वार पर एक बड़ी सभा हो रही थी। आस-पास के गाँवों के किसान भी आ गये थे, हज़ारों आदमियों की भीड़ थी। चौधरी उन्हें स्वराज्य-विषयक उपदेश दे रहे थे। बारम्बार भारतमाता के जय-जयकार की ध्वनि उठती थी। एक ओर स्त्रियों का जमाव था। चौधरी ने उपदेश समाप्त किया, और अपनी जगह पर बैठे। स्वयंसेवकों ने स्वराज्य-फंड के लिए चन्दा जमा करना शुरू किया कि इतने में भगतजी न जाने किधर से लपके हुए आये, और श्रोताओं के सामने खड़े होकर उच्च स्वर से बोले—

"भाइयो, मुझे यहाँ देखकर अचरज मत करो, मैं स्वराज्य का विरोधी नहीं हूँ। ऐसा पतित कौन प्राणी होगा, जो स्वराज्य का निन्दक हो, लेकिन इसके प्राप्त करने का यह उपाय नहीं है, जो चौधरी ने बतलाया है, और जिस पर तुम लोग लट्टू हो रहे हो। जब आपस में फूट और रार है, तो पंचायतों से क्या होगा? जब विलासिता का भूत सिर पर सवार है, तो नशा कैसे छूटेगा, मदिरा की दूकानों का बहिष्कार कैसे होगा? सिगरेट, साबुन, मोजे, बनियान, अद्धी, तंजेब से कैसे पिंड छूटेगा? जब राब और हुकूमत की लालसा बनी हुई है, तो सरकारी मदरसे कैसे छोड़ोगे, विधर्मी शिक्षा की बेड़ी से कैसे मुक्त हो सकोगे? स्वराज्य लेने का केवल एक ही उपाय है, और वह है, आत्म-संयम। यही महौषधि तुम्हारे समस्त रोगों को समूल नष्ट करेगी। आत्मा को बलवान् बनाओ, इन्द्रियों को साधो, मन को वश में करो, तभी तुममें भ्रातृ-भाव पैदा होगा, तभी भोग-विलास से मन हटेगा, तभी नशेबाज़ी का दमन होगा। आत्मबल के बिना स्वराज्य कभी प्राप्त न होगा। स्वार्थ-सेवा सब पापों

का मूल है, यही तुम्हें अदालतों में ले जाती है, यही तुम्हें विधर्मी शिक्षा क दास बनाये हुए है। इस पिशाच को आत्मबल से मारो, फिर तुम्हारी कामन पूरी हो जायगी। सब जानते हैं, मैं ४० साल से अफ़ीम का सेवन करता हूँ आज से अफ़ीम को गऊ का रक्त समझूँगा। चौधरी से मेरी तीन पीढ़ियों क अदावत है। आज से चौधरी मेरे भाई हैं। आज मुझे या मेरे घर के किस प्राणी को घर के कते सूत से बुने हुए कपड़े के सिवा कुछ और पहनते देखो तो मुझे जो दंड चाहो, दो। बस मुझे यही कहना है, परमात्मा हम सबक इच्छा पूरी करे।"

यह कहकर भगतजी घर की ओर चले कि चौधरी दौड़कर उनके गले से लिपट गये। तीन पुश्तों की अदावत एक क्षण में शान्त हो गई।

उस दिन से चौधरी और भगत साथ-साथ स्वराज्य का उपदेश करने लगे उनमें गाढ़ी मित्रता हो गयी और यह निश्चय करना कठिन है कि दोनों में से जनता किसका अधिक सम्मान करती है।

चकमा

सेठ चन्दूमल जब अपनी दूकान और गोदाम में भरे हुए माल को देखते, तो मुँह से ठण्डी साँस निकल जाती। यह माल कैसे बिकेगा? बैंक का सूद बढ़ रहा है, दूकान का किराया चढ़ रहा है, कर्मचारियों का वेतन बाकी पड़ता जाता है। ये सभी रकमें गाँठ से देनी पड़ेंगी। अगर कुछ दिन यही हाल रहा, तो दिवाले के सिवा और किसी तरह जान न बचेगी। तिस पर भी धरनेवाले नित्य सिर पर शैतान की तरह सवार रहते हैं।

सेठ चन्दूमल की दूकान चाँदनी चौक, दिल्ली में थी। मुफस्सिल में भी उनकी कई दूकानें थीं। जब शहर कांग्रेस-कमेटी ने उनसे विलायती कपड़े की खरीद और बिक्री के विषय में प्रतिज्ञा करानी चाही, तो उन्होंने कुछ ध्यान न दिया। बाजार के कई आढ़तियों ने उनकी देखादेखी प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर

करने से इनकार कर दिया। चंदूमल को जो नेतृत्व कभी न नसीब हुआ था, वह इस अवसर पर बिना हाथ-पैर हिलाये ही मिल गया। वह सरकार के खैर-ख्वाह थे। साहब बहादुरों को समय-समय डालियाँ नजर देते रहते थे। पुलिस से घनिष्ठता थी। म्युनिसिपैलिटी के सदस्य भी थे। कांग्रेस के व्यापारिक कार्य-क्रम का विरोध करके अमन-सभा के कोषाध्यक्ष बन बैठे। यह इसी खैरख्वाही की बरकत थी कि युवराज का स्वागत करने के लिए अधिकारियों ने उनसे पचीस हज़ार के कपड़े खरीदे। ऐसा समर्थ पुरुष कांग्रेस से क्यों डरे? कांग्रेस है किस खेत की मूली। पुलिसवालों ने भी बढ़ावा दिया—मुआहिदे पर हरगिज दस्तखत न कीजिएगा। देखें, ये लोग क्या करते हैं? एक-एक को जेल न भिजवा दिया, तो कहिएगा। लालाजी के हौसले बढ़े। उन्होंने कांग्रेस से लड़ने की ठान ली। उसी के फल-स्वरूप तीन महीने से उनकी दूकान पर प्रातःकाल से नौ बजे रात तक पहरा रहता था। पुलिस-दलों ने उनकी दूकान पर वालं-टियरों को कई बार गालियाँ दीं, कई बार पीटा, खुद सेठजी ने भी कई बार उन पर वाणी के बाण चलाये, किन्तु पहरेवाले किसी तरह न टलते थे। बल्कि इन अत्याचारों के कारण चन्दूमल का बाजार और भी गिरता जाता था। मुफ़स्सिल की दूकानों से मुनीम लोग और भी निराशाजनक समाचार भेजते रहते थे। कठिन समस्या थी। इस संकट से निकलने का कोई उपाय न था। वह देखते थे, जिन लोगों ने प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये हैं, वे चोरी-छिपे कुछ-न-कुछ विदेशी माल बेच लेते हैं। उनकी दूकानों पर पहरा नहीं बैठता। यह सारी विपत्ति मेरे ही सिर है।

उन्होंने सोचा, पुलिस हाकिमों की दोस्ती से मेरा क्या भला हुआ? उनके हटाये ये पहरे नहीं हटते। सिपाहियों की प्रेरणा से ग्राहक नहीं आते। किसी तरह पहरे बन्द हो जाते, तो सारा खेल बन जाता।

इतने में मुनीमजी ने कहा—लालाजी, यह देखिए कई व्यापारी हमारी तरफ आ रहे थे। पहरेवाले ने उन्हें न-जाने क्या मन्त्र पढ़ा दिया, सब चले जा रहे हैं।

चन्दूमल—अगर इन पापियों को कोई गोली मार देता, तो मैं बहुत खुश होता। ये सब मेरा सर्वनाश करके दम लेंगे।

मुनीम—कुछ हेठी तो होगी, यदि आप प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर देते तो यह पहरा उठ जाता। तब हम भी यह सब माल किसी-न-किसी तरह खप देते।

चन्दूमल—मन में तो मेरे भी यह बात आती है, पर सोचो अपमान कितना होगा ? इतनी हेकड़ी दिखाने के बाद फिर झुका नहीं जाता। फिर हाकिमों की निगाहों में गिर जाऊँगा। और लोग भी ताने देंगे कि चले थे बच्चा कांग्रेस से लड़ने। ऐसी मुँह की खायी कि होश ठिकाने आ गये। जिन लोगों को पीटा और पिटवाया, जिनको गालियाँ दीं, जिनकी हँसी उड़ायी अब उनकी शरण कौन मुँह लेकर जाऊँ ! मगर एक उपाय सूझ रहा है। अगर चकमा चल गया, तो 'पौ बारह' है। बात तो तब है जब साँप को मारूँ, मगर लाठी बचाकर। पहरा उठा दूँ, पर बिना किसी की खुशामद किये।

(२)

नौ बज गये थे। सेठ चन्दूमल गंगा-स्नान करके लौट आये थे, और मसनद पर बैठकर चिट्ठियाँ पढ़ रहे थे। दूकान के मुनीमों ने अपनी विपत्ति-कथा सुनायी थी। एक-एक पत्र पढ़कर सेठजी का क्रोध बढ़ता जाता था। इतने में दो वालंटियर झंड़ियाँ लिये उनकी दूकान के सामने आकर खड़े हो गये।

सेठजी ने डाँटकर कहा—हट जाओ हमारी दूकान के सामने से।

एक वालंटियर ने उत्तर दिया—महाराज, हम तो सड़क पर हैं। क्या यहाँ से भी चले जायँ ?

चन्दूमल—तुम्हारी सूरत नहीं देखना चाहता।

वालंटियर—तो आप कांग्रेस-कमेटी को लिखिए। हमको तो वहाँ से यहीं खड़े रहकर पहरा देने का हुक्म मिला है।

एक कांस्टेबिल ने आकर कहा—क्या है सेठजी, यह लौंडा क्या टर्राता है ?

चन्दूमल बोले—मैं कहता हूँ दूकान के सामने से हट जाओ, पर यह कहता है, न हटेंगे। जरा इसकी जबरदस्ती देखो।

कांस्टेबिल—(वालंटियरों से) तुम दोनों यहाँ से जाते हो कि आकर गरदन नापूँ ?

वालंटियर—हम सड़क पर खड़े हैं, दूकान पर नहीं।

कांस्टेबिल का अभीष्ट अपनी कारगुजारी दिखाना था। वह सेठजी को खुश करके कुछ इनाम-एकराम भी लेना चाहता था। उसने वालंटियरों को अपशब्द कहे, और जब उन्होंने उसकी कुछ परवा न की, तो एक वालंटियर को इतना जोर से धक्का दिया कि वह बेचारा मुँह के बल जमीन पर गिर पड़ा। कई वालंटियर इधर-उधर से आकर जमा हो गये। कई सिपाही भी आ पहुँचे। दर्शक-बृन्द को ऐसी घटनाओं में मजा आता ही है। उनकी भीड़ लग गयी। किसी ने हाँक लगायी—'महात्मा गांधी की जय।' औरों ने भी उसके सुर-में-सुर मिलाया, देखते-देखते एक जन-समूह एकत्र हो गया।

एक दर्शक ने कहा—क्या है लाला चन्दूमल ! अपनी दूकान के सामने इन गरीबों की यह दुर्गति करा रहे हो, और तुम्हें जरा भी लज्जा नहीं आती ? कुछ भगवान् का भी डर है या नहीं ?

सेठजी ने कहा—मुझसे कसम ले लो, जो मैंने किसी सिपाही से कुछ कहा हो। ये लोग अनायास बेचारों के पीछे पड़ गये। मुझे नाहक बदनाम करते हो।

एक सिपाही—लालाजी, आप ही ने तो कहा था कि ये दोनो वालंटियर मेरे ग्राहकों को छेड़ रहे हैं। अब आप निकले जाते हैं।

चन्दूमल—बिलकुल झूठ, सरासर झूठ, सोलहो आना झूठ। तुम लोग अपनी कारगुजारी की धुन में इनसे उलझ पड़े। ये बेचारे तो दूकान से बहुत दूर खड़े थे। न किसी से बोलते थे, न चालते थे। तुमने जबरदस्ती ही इन्हें गरदनी देनी शुरू की। मुझे अपना सौदा बेचना है कि किसी से लड़ना।

दूसरा सिपाही—लालाजी, हो बड़े होशियार! आग लगाकर अलग हो गये। तुम न कहते, तो हमें क्या पड़ी थी कि इन लोगों को धक्के देते? दारोगाजी ने भी हमको ताकीद कर दी थी कि सेठ चन्दूमल की दूकान का विशेष ध्यान रखना। वहाँ कोई वालंटियर न आये। तब हम लोग आये थे। तुम फरियाद न करते, तो दारोगाजी हमारी तैनाती ही क्यों करते ?

चन्दूमल—दारोगाजी को अपनी कारगुजारी दिखानी होगी। मैं उनके पास क्यों फरियाद करने जाता? सभी लोग कांग्रेस के दुश्मन हो रहे हैं। थानेवाले तो उसके नाम से ही जलते हैं। क्या मैं शिकायत करता, तभी तुम्हारी तैनाती होती ?

इतने में किसी ने थाने में इत्तिला की कि चन्दूमल की दूकान पर कांस्टेबिलों और वालंटियरों में मार-पीट हो गयी। कांग्रेस के दफ्तर में भी खबर पहुँची। जरा देर में सशस्त्र पुलिस को लेकर थानेदार और इंस्पेक्टर साहब आ पहुँचे। उधर कांग्रेस के कर्मचारी भी दल-बल-सहित दौड़े। समूह और बढ़ा। बार-बार जय-जयकार की ध्वनि उठने लगी। कांग्रेस और पुलिस के नेताओं में वाद-विवाद होने लगा। परिणाम यह हुआ कि पुलिसवालों ने दोनो वालंटियरों को हिरासत में लिया, और थाने की ओर चले।

पुलिस-अधिकारियों के चले जाने के बाद सेठजी ने कांग्रेस के प्रधान से कहा—आज मुझे मालूम हुआ कि ये लोग वालंटियरों पर इतना घोर अत्याचार करते हैं।

प्रधान—तब तो दो वालंटियरों का फँसना व्यर्थ नहीं हुआ। इस विषय में अब तो आपको कोई शंका नहीं। हम कितने लड़ाकू, कितने द्रोही, कितने शान्ति-भंगकारी हैं, यह तो आपको खूब मालूम हो गया होगा?

चन्दूमल—जी हाँ, खूब मालूम हो गया।

प्रधान—आपकी शहादत तो अवश्य ही होगी।

चन्दूमल—होगी, तो मैं भी साफ-साफ कह दूँगा, चाहे बने या बिगड़े, पुलिस की सख्ती अब नहीं देखी जाती। मैं भी भ्रम में पड़ा हुआ था।

मंत्री—पुलिसवाले आपको दबायेंगे बहुत।

चन्दूमल—एक नहीं, सौ दबाव पड़े, मैं झूठ कभी न बोलूँगा। सरकार उस दरबार में साथ न जायगी।

मंत्री—अब तो हमारी लाज आपके हाथ है।

चन्दूमल—मुझे आप देश का द्रोही न पायेंगे।

यहाँ से प्रधान और मंत्री तथा अन्य पदाधिकारी चले, तो मंत्रीजी ने कहा—आदमी सच्चा जान पड़ता है।

प्रधान—(संदिग्ध भाव से) कल तक आप ही सिद्ध हो जायगा।

(३)

शाम को इंस्पेक्टर पुलिस ने लाला चन्दूमल को थाने में बुलाया और कहा—आपको शहादत देनी होगी। हम आपकी तरफ से बेफिक्र हैं।

चन्दूमल बोले—हाजिर हूँ।

इंस्पेक्टर—वालंटियरों ने कांस्टेबिलों को गालियाँ दीं?

चन्दूमल—मैंने नहीं सुनीं।

इंस्पेक्टर—सुनीं या नहीं सुनीं यह बहस नहीं। आपको यह कहना होगा। वे खरीदारों को धक्के देकर हटाते थे, हाथापाई करते थे, मारने की धमकी देते थे, यह सभी बातें कहनी होंगी। दारोगाजी, वह बयान लाइए, जो मैंने सेठजी के लिए लिखवाया है।

चन्दूमल—मुझसे भरी-अदालत में झूठ न बोला जायगा। अपने हजारों जाननेवाले अदालत में होंगे। किस-किससे मुँह छिपाऊँगा। कहीं निकलने की जगह भी चाहिए।

इंस्पेक्टर—ये सब बातें निज के मुआमलों के लिए हैं, पोलिटिकल मुआमलों में झूठ-सच, शर्म और हया, किसी का भी खयाल नहीं किया जाता।

चन्दूमल—मुँह में कालिख लग जायगी।

इंस्पेक्टर—सरकार की निगाह में इज्जत चौगुनी हो जायगी।

चन्दूमल—(सोचकर) जी नहीं, गवाही न दे सकूँगा। कोई और गवाह बना लीजिए।

इंस्पेक्टर—याद रखिए, यह इज्जत खाक में मिल जायगी।

चन्दूमल—मिल जाय, मजबूरी है।

इंस्पेक्टर—अमन-सभा के कोषाध्यक्ष का पद छिन जायगा।

चन्दूमल—उसमे कौन रोटियाँ चलती हैं?

इंस्पेक्टर—बन्दूक का लाइसंस छिन जायगा।

चन्दूमल—छिन जाय, बला से!

इंस्पेक्टर—इनकम-टैक्स की जाँच फिर से होगी!

चन्दूमल—ज़रूर कराइए। यह तो मेरे मन की बात हुई।

इंस्पेक्टर—बैठने को कुरसी न मिलेगी।

चन्दूमल—कुरसी लेकर चाटूँ? दिवाला तो निकला जा रहा है।

इंस्पेक्टर—अच्छी बात है। तशरीफ़ ले जाइए। कभी तो आप पंजे में आवेंगे।

(४)

दूसरे दिन इसी समय कांग्रेस के दफ्तर में कल के लिए कार्यक्रम निश्चित किया जा रहा था। प्रधान ने कहा—सेठ चन्दूमल की दूकान पर धरना देने के लिए दो स्वयंसेवक भेजिए!

मंत्री—मेरे विचार में वहाँ अब धरना देने की जरूरत नहीं।

प्रधान—क्यों? उन्होंने अभी प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर तो नहीं किये?

मंत्री—हस्ताक्षर नहीं किये, पर हमारे मित्र अवश्य हो गये। पुलिस की तरफ से गवाही न देना यही सिद्ध करता है। अधिकारियों का कितना दबाव पड़ा होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है। यह नैतिक साहस विचारों में परिवर्तन हुए बिना नहीं आ सकता।

प्रधान—हाँ, कुछ परिबर्तन अवश्य हुआ है।

मंत्री—कुछ नहीं, महाशय! पूरी क्रांति कहिए आप जानते हैं, ऐसे मुआमलों में अधिकारियों की अवहेलना करने का क्या अर्थ है? यह राज-विद्रोह की घोषणा के समान है! संन्यास से इसका महत्त्व कम नहीं। आज जिले के सारे हाकिम उनके खून के प्यासे हो रहे हैं, और आश्चर्य नहीं कि गवर्नर महोदय को भी इसकी सूचना दी गयी हो।

प्रधान—और कुछ नहीं, तो उन्हें नियम का पालन करने ही के लिए प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत कर देना चाहिए था। किसी तरह उन्हें यहाँ बुलाइए! अपनी बात तो रह जाय।

मंत्री—वह बड़ा आत्माभिमानी है, कभी न आयेगा। बल्कि हम लोगों की ओर से इतना अविश्वास देखकर सम्भव है, फिर उस दल में मिलने की चेष्टा करने लगे।

प्रधान—अच्छी बात है, आपको उन पर इतना विश्वास हो गया है, तो उनकी दूकान को छोड़ दीजिए। तब भी मैं यही कहूँगा कि आपको स्वयं मिलने के बहाने से उन पर निगाह रखनी होगी।

मंत्री—आप नाहक इतना शक करते हैं।

(५)

नौ बजे सेठ चन्दूमल अपनी दूकान पर आये, तो वहाँ कोई भी वालंटियर

न था। मुख पर मुस्कराहट की झलक आयी। मुनीम से बोले—कौड़ी चित पड़ी।

मुनीम—मालूम तो होता है। एक महाशय भी नहीं आये।

चन्दूमल—न आये, और न आयेंगे। बाजी अपने हाथ रही। कैसा दाँव खेला—चारो खाने चित।

मुनीम—पुलिसवाले तो दुश्मन हो गये।

चन्दूमल—आप भी कैसी बातें करते हैं? इन्हें दोस्त बनाते कितनी देर लगती है। कहिए, अभी बुलाकर जूतियाँ सीधी करवाऊँ। टके के गुलाम हैं, न किसी के दोस्त, न किसी के दुश्मन। सच कहिए, कैसा चकमा दिया?

मुनीम—बस, यही जी चाहता है कि आके हाथ चूम लें। साँप भी मरा, और लाठी भी न टूटी। मगर कांग्रेसवाले भी टोह में होंगे।

चन्दूमल—तो मैं भी मौजूद हूँ। वह डाल-डाल चलेंगे, तो मैं पात-पात चलूँगा। विलायती कपड़े की गाँठें निकलवाइए, और व्यापारियों को देना शुरू कीजिए। एक अठवारे में बेड़ा पार है।

आप-बीती

साहित्य-सेवियों के जीवन में एक ऐसा समय आता है, जब पाठकगण उनके पास श्रद्धा-पूर्ण पत्र भेजने लगते हैं। कोई उनकी रचना-शैली की प्रशंसा करता है, कोई उनके सद्विचारों पर मुग्ध हो जाता है। लेखक को भी कुछ दिनों से यह सौभाग्य प्राप्त है, ऐसे पत्रों को पढ़कर उसका हृदय कितना गद्-गद हो जाता है, इसे किसी साहित्य-सेवी ही से पूछना चाहिए। अपने फटे कम्बल पर बैठा हुआ वह गर्व और आत्मगौरव की लहरों में डूब जाता है। भूल जाता है कि रात को गीली लकड़ी से भोजन पकाने के कारण सिर में कितना दर्द हो रहा था, खटमलों और मच्छरों ने रात-भर कैसे नींद हराम कर दी थी। 'मैं भी कुछ हूँ' यह अहंकार उसे एक क्षण के लिए उन्मत्त बना देता

है। पिछले साल, सावन के महीने में, मुझे एक ऐसा ही पत्र मिला। उसमें मेरी क्षुद्र रचनाओं की दिल खोलकर दाद दी गयी थी।

पत्र-प्रेषक महोदय स्वयं एक अच्छे कवि थे। मैं उनकी कविताएँ पत्रिकाओं में अक्सर देखा करता था। यह पत्र पढ़कर फूला न समाया। उसी वक्त जवाब लिखने बैठा। उस तरंग में जो कुछ लिख गया, इस समय याद नहीं। इतना जरूर याद है कि पत्र आदि से अन्त तक प्रेम के उद्‌गारों से भरा हुआ था। मैंने कभी कविता नहीं की, और न कोई गद्य-काव्य ही लिखा; पर भाषा को जितना सँवार सकता था, उतना सँवारा। यहाँ तक कि जब पत्र समाप्त करके दुबारा पढ़ा, तो कविता का आनन्द आया। सारा पत्र भाव-लालित्य से परिपूर्ण था। पाँचवें दिन कवि महोदय का दूसरा पत्र आ पहुँचा। वह पहले पत्र से भी कहीं अधिक मर्म-स्पर्शी था। 'प्यारे भैया!' कहकर मुझे सम्बोधित किया गया था; मेरी रचनाओं की सूची और प्रकाशकों के नाम-ठिकाने पूछे गये थे। अन्त में यह शुभ समाचार था कि 'मेरी पत्नीजी को आपके ऊपर बड़ी श्रद्धा है, वह बड़े प्रेम से आपकी रचनाओं को पढ़ती हैं। वही पूछ रही हैं कि आपका विवाह कहाँ हुआ है? आपकी सन्तानें कितनी हैं, तथा आपका कोई फोटो भी है? हो. कृपया भेज दीजिये।' मेरी जन्म भूमि और वंशावली का पता भी पूछा गया था। इस पत्र, विशेषतः उसके अन्तिम समाचार ने मुझे पुलकित कर दिया।

यह पहला ही अवसर था कि मुझे किसी महिला के मुख से, चाहे वह प्रतिनिधि द्वारा ही क्यों न हो, अपनी प्रशंसा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ग़रूर का नशा छा गया। धन्य है भगवान्! अब रमणियाँ भी मेरे कृत्य की सराहना करने लगीं! मैंने तुरन्त उत्तर लिखा। जितने कर्णप्रिय शब्द मेरी स्मृति के कोष में थे, सब ख़र्च कर दिये। मैत्री और बन्धुत्व से सारा पत्र भरा हुआ था। अपनी वंशावली का वर्णन किया। कदाचित् मेरे पूर्वजों का ऐसा कीर्तिगान किसी भाट ने भी न किया होगा। मेरे दादा एक ज़मींदार के कारिंदे थे; मैंने उन्हें एक बड़ी रियासत का मैनेजर बतलाया। अपने पिता को, जो एक दफ्तर में क्लर्क थे, उस दफ़्तर का प्रधानाध्यक्ष बना दिया। और, काश्तकारी को ज़मींदारी बना देना तो साधारण बात थी। अपनी रचनाओं की

संख्या तो न बढ़ा सका, पर उनके महत्त्व, आदर और प्रचार का उल्लेख ऐसे शब्दों में किया, जो नम्रता की आंट में अपने गर्व को छिपाते हैं। कौन नहीं जानता कि बहुधा 'तुच्छ' का अर्थ उसके विपरीत होता है, और 'दीन' के माने कुछ और ही समझे जाते हैं। स्पष्ट रूप से अपनी बड़ाई करना उच्छृंखलता है; मगर सांकेतिक शब्दों से आप इसी काम को बड़ी आसानी से पूरा कर सकते हैं। खैर मेरा पत्र समाप्त हो गया, और तत्क्षण लेटर-बॉक्स के पेट में पहुँच गया।

इसके बाद दो सप्ताह तक कोई पत्र न आया। मैंने उस पत्र में अपनी गृहिणी की ओर से भी दो-चार समयोचित बातें लिख दी थीं। आशा थी, घनिष्ठता और भी घनिष्ठ होगी। कहीं कविता में मेरी प्रशंसा हो जाय, तो क्या पूछना! फिर तो साहित्य-संसार में मैं-ही-मैं नज़र आऊँ! इस चुप्पी से कुछ निराशा होने लगी; लेकिन इस डर से कि कहीं कविजी मुझे मतलबी अथवा सेंटिमेंटल न समझ लें, कोई पत्र न लिख सका।

आश्विन का महीना था, और तीसरा पहर। रामलीला की धूम मची हुई थी। मैं अपने एक मित्र के घर चला गया था। ताश की बाज़ी हो रही थी। सहसा एक महाशय मेरा नाम पूछते हुए आये, और मेरे पास की कुरसी पर बैठ गये। मेरा उनसे कभी का परिचय न था। सोच रहा था, यह कौन आदमी हैं, और यहाँ कैसे आये। यार लोग उन महाशय की ओर देखकर आपस में इशारेबाज़ियाँ कर रहे थे। उनके आकार-प्रकार में कुछ नवीनता अवश्य थी। श्यामवर्ण, नाटा डील, मुख पर चेचक के दाग़, नंगा सिर, बाल सँवारे हुए; सिर्फ़ सादी क़मीज़, गले में फूलों की एक माला; पैरों में फ़ुल-बूट और हाथ में एक मोटी-सी पुस्तक!

मैंने विस्मित होकर नाम पूछा।

उत्तर मिला—मुझे उमापति नारायण कहते हैं।

मैं उठकर उनके गले से लिपट गया। यह वही कवि महोदय थे, जिनके कई प्रेम-पत्र मुझे मिल चुके थे। कुशल-समाचार पूछा। पान-इलायची से खातिर की। फिर पूछा—आपका आना कैसे हुआ?

उन्होंने कहा—मकान पर चलिए, तो सब वृत्तान्त कहूँगा। मैं आपके घर

गया था। वहाँ मालूम हुआ, आप यहाँ हैं। पूछता हुआ चला आया।

मैं उमापतिजी के साथ घर चलने को उठ खड़ा हुआ। जब वह कमरे के बाहर निकल गये तो मेरे मित्र ने पूछा—यह कौन साहब हैं?

मैं—मेरे एक नये दोस्त हैं!

मित्र—ज़रा इनसे होशियार रहिएगा! मुझे तो उचक्के-से मालूम होते हैं।

मैं—आपका गुमान ग़लत है। आप हमेशा आदमी को उसकी सज-धज से परखा करते हैं। पर मनुष्य कपड़ों में नहीं हृदय में रहता है।

मित्र—ख़ैर, ये रहस्य की बातें तो आप जानें; मैं आपको आगाह किये देता हूँ।

मैंने इसका कुछ जवाब नहीं दिया। उमापतिजी के साथ घर आया। बाज़ार से भोजन मँगवाया। फिर बातें होने लगीं। उन्होंने मुझे अपनी कई कविताएँ सुनायीं। स्वर बहुत सरस और मधुर था।

कविताएँ तो मेरी समझ में ख़ाक न आयीं, पर मैंने तारीफ़ों के पुल बाँध दिये। झूम-झूमकर वाह-वाह करने लगा, जैसे मुझसे बढ़कर कोई काव्य-रसिक संसार में न होगा। सन्ध्या को हम रामलीला देखने गये। लौटकर उन्हें फिर भोजन कराया। अब उन्होंने अपना वृत्तान्त सुनाना शुरू किया। इस समय वह अपनी पत्नी को लेने के लिए कानपुर जा रहे थे। उनका मकान कानपुर ही में था। उनका विचार था कि एक मासिक-पत्रिका निकालें। उनकी कविताओं के लिए एक प्रकाशक १,०००) देता था; पर उनकी इच्छा तो यह थी कि उन्हें पहले पत्रिका में क्रमशः निकालकर फिर अपनी ही लागत से पुस्तकाकार छपवाएँ। कानपुर में उनकी ज़मींदारी भी थी; पर वह साहित्यिक जीवन व्यतीत करना चाहते थे। ज़मींदारी से उन्हें घृणा थी। उनकी स्त्री एक कन्या-विद्यालय में प्रधानाध्यापिका थी। आधी रात तक बातें होती रहीं। अब उनमें से अधिकांश याद नहीं। हाँ, इतना याद है कि हम दोनों ने मिलकर अपने भावी जीवन का एक कार्य-क्रम तैयार कर लिया था। मैं अपने भाग्य को सराहता था कि भगवान् ने बैठे-बिठाये ऐसा सच्चा मित्र भेज दिया। आधी रात बीत गयी, तब सोये। उन्हें दूसरे दिन ८ बजे की गाड़ी से जाना था। मैं जब

सोकर उठा, तब सात बज चुके थे। उमापतिजी मुँह-हाथ धोये तैयार बैठे थे। बोले—अब आज्ञा दीजिए, लौटते समय इधर ही से जाऊँगा। इस समय आपको कुछ कष्ट दे रहा हूँ। क्षमा कीजिएगा। मैं कल चला, तो प्रातःकाल के ४ बजे थे। २ बजे रात से पड़ा जाग रहा था कि कहीं नींद न आ जाय। बल्कि यों समझिए कि सारी रात जागना पड़ा। चलने की चिन्ता लगी हुई थी। गाड़ी में बैठा, तो झपकियाँ आने लगीं। कोट उतारकर रख दिया, और लेट गया, तुरन्त नींद आ गयी। मुग़लसराय में नींद खुली। कोट ग़ायब! नीचे, ऊपर, चारों तरफ़ देखा, कहीं पता नहीं। समझ गया, किसी महाशय ने उड़ा दिया। सोने की सज़ा मिल गयी। कोट में ५०) खर्च के लिए रखे थे; वे भी उसके साथ उड़ गये। आप मुझे ५०) दें। पत्नी को मायके से लाना है; कुछ कपड़े वगैरह ले जाने पड़ेंगे। फिर ससुराल में सैकड़ों तरह के नेग-जोग लगते हैं। क़दम-क़दम पर रुपए खर्च होते हैं! न खर्च कीजिए, तो हँसी हो। मैं इधर से लौटूँगा, तो देता जाऊँगा।

मैं बड़े संकोच में पड़ गया। एक बार पहले भी धोखा खा चुका था। तुरन्त भ्रम हुआ, कहीं अबकी फिर वही दशा न हो, लेकिन शीघ्र ही मन के इस अविश्वास पर लज्जित हुआ। संसार में सभी मनुष्य एक-से नहीं होते। यह बेचारे इतने सज्जन हैं। इस समय संकट में पड़ गये हैं। और मैं मिथ्या सन्देह में पड़ा हुआ हूँ। घर में आकर पत्नी से कहा—तुम्हारे पास कुछ रुपये तो नहीं हैं?

स्त्री—क्या करोगे?

मैं—मेरे जो मित्र कल आये हैं, उनके रुपये किसी ने गाड़ी में चुरा लिये। उन्हें स्त्री को विदा कराने ससुराल जाना है। लौटती बार देते जायँगे।

पत्नी ने व्यंग्य करके कहा—तुम्हारे यहाँ जितने मित्र आते हैं, सब तुम्हें ठगने ही आते हैं। सभी संकट में पड़े रहते हैं। मेरे पास रुपये नहीं हैं।

मैंने खुशामद करते हुए कहा—लाओ, दे दो, बेचारे तैयार खड़े हैं। गाड़ी छूट जायगी।

स्त्री—कह दो, इस समय घर में रुपये नहीं हैं।

मैं—यह कह देना आसान नहीं है। इसका अर्थ तो यह है कि मैं दरिद्र

ही नहीं, मित्र-हीन भी हूँ; नहीं तो क्या मेरे किये ५०) का भी इंतज़ाम नहीं हो सकता। उमापति को कभी विश्वास न आयेगा कि मेरे पास रुपये नहीं हैं। इससे तो कहीं अच्छा हो कि साफ़-साफ़ यह कह दिया जाय कि 'हमको आप पर भरोसा नहीं है, हम आपको रुपये नहीं दे सकते।' कम-से-कम अपना पर्दा तो ढका रह जायगा।

श्रीमतीजी ने झुँझलाकर सन्दूक की कुञ्जी मेरे आगे फेंक दी, और कहा तुम्हें जितनी बहस करनी आती है, उतना कहीं आदमियों को परखना आता तो अब तक आदमी हो गये होते! ले जाओ, दे दो। किसी तरह तुम्हारी मरजाद तो बनी रहे। लेकिन उधार समझकर मत दो, यह समझ लो कि पानी में फेंके देते हैं।

मुझे आम खाने से काम था, पेड़ गिनने से नहीं; चुपके से रुपये निकाले, और लाकर उमापति को दे दिये। फिर लौटती बार आकर रुपये दे जाने का आश्वासन देकर वह चल दिये।

सातवें दिन शाम को वह घर से लौट आये। उनकी पत्नी और पुत्री भी साथ थीं। मेरी पत्नी ने शक्कर और दही खिलाकर उनका स्वागत किया। 'मुँह दिखाई' के २) दिये। उनकी पुत्री को भी मिठाई खाने को दो रुपये दिये। मैंने समझा था, उमापति आते-ही-आते मेरे रुपये गिनने लगेंगे; लेकिन उन्होंने पहर रात गये तक रुपयों का नाम भी न लिया। जब मैं घर में सोने गया, तो बीबी से कहा—इन्होंने तो रुपये नहीं दिये जी!

पत्नी ने व्यंग्य से हँसकर कहा—तो क्या सचमुच तुम्हें आशा थी कि वह आते-ही-आते तुम्हारे हाथ में रुपये रख देंगे। मैंने तो तुमसे पहले ही कह दिया था कि फिर पाने की आशा से रुपये मत दो; यही समझ लो कि किसी मित्र को सहायतार्थ दे दिये। लेकिन तुम भी विचित्र आदमी हो।

मैं लज्जित और चुप हो रहा। उमापति दो दिन रहे। मेरी पत्नी उनका यथोचित आदर-सत्कार करती रही। लेकिन मुझे उतना संतोष न था। मैं समझता था, उन्होंने मुझे धोखा दिया।

तीसरे दिन प्रातःकाल वह चलने को तैयार हुए। मुझे अब भी आशा थी कि वह रुपये देकर जायँगे। लेकिन जब उनकी नयी राम-कहानी सुनी, तो

सन्नाटे में आ गया। वह अपना बिस्तरा बाँधते हुए बोले—बड़ा ही खेद है कि मैं अबकी बार आपके रुपये न दे सका। बात यह कि मकान पर पिताजी से भेंट ही नहीं हुई। वह तहसील-वसूल करने गाँव चले गये थे, और मुझे इतना अवकाश न था कि गाँव तक जाता। रेल का रास्ता नहीं है। बैलगाड़ियों पर जाना पड़ता है। इसलिए मैं एक दिन मकान पर रहकर ससुराल चला गया। वहाँ सब रुपये खर्च हो गये। विदाई के रुपये न मिल जाते यहाँ तक आना कठिन था। अब मेरे पास रेल का किराया तक नहीं है। आप मुझे २५) और दे दें। मैं वहाँ जाते-ही-जाते भेज दूँगा। मेरे पास इक्के तक का किराया नहीं है।

जी में तो आया कि टका सा जवाब दे दूँ, पर इतनी अशिष्टता न हो सकी। फिर पत्नी के पास गया, और रुपये माँगे। अबकी उन्होंने बिना कुछ कहे-सुने रुपये निकालकर मेरे हवाले कर दिये। मैंने उदासीन भाव से रुपये उमापतिजी को दे दिये। जब उनकी पुत्री और अर्द्धांगिनी जीने से उतर गयीं, तो उन्होंने बिस्तर उठाया, और मुझे प्रणाम किया। मैंने बैठे-बैठे सिर हिलाकर जवाब दिया। उन्हें सड़क तक पहुँचाने भी न गया।

एक सप्ताह बाद उमापतिजी ने लिखा—मैं कार्य-वश बरार जा रहा हूँ। लौटकर रुपये भेजूँगा।

१५ दिन बाद मैंने एक पत्र लिखकर कुशल-समाचार पूछे। कोई उत्तर न आया। १५ दिन बाद फिर रुपयों का तक़ाज़ा किया। उसका भी यही हाल! एक रजिस्ट्री पत्र भेजा। वह पहुँच गया, इसमें संदेह नहीं; लेकिन जवाब उसका भी न आया। समझ गया, समझदार जोरू ने जो कहा था, वह अक्षरशः सत्य था। निराश होकर चुप हो रहा।

इन पत्रों की चर्चा भी मैंने पत्नी से नहीं की, और न उसी ने कुछ इस बारे में पूछा।

(२)

इस कपट-व्यवहार का मुझपर वही असर पड़ा, जो साधारणतः स्वाभाविक रूप से पड़ना चाहिए था। कोई ऊँची और पवित्र आत्मा इस छल पर भी अटल रह सकती थी। उसे यह समझकर सन्तोष हो सकता था कि मैंने अपने

कर्त्तव्य को पूरा कर दिया। यदि ऋणी ने ऋण नहीं चुकाया, तो मेरा क्या अपराध! पर मैं इतना उदार नहीं हूँ। यहाँ तो महानों सिर खपाता हूँ, क़लम घिसता हूँ, तब जाकर नगद-नारायण के दर्शन होते हैं।

इसी महीने की बात है। मेरे पत्रालय में एक नया कंपोज़ीटर बिहार-प्रान्त से आया। काम में चतुर जान पड़ता था। मैंने उसे १५) मासिक पर नौकर रख लिया। पहले किसी अँग्रेज़ी स्कूल में पढ़ता था। असहयोग के कारण पढ़ना छोड़ बैठा था। घरवालों ने किसी प्रकार की सहायता देने से इनकार किया। विवश होकर उसने जीविका के लिए यह पेशा अख्तियार कर लिया था। कोई १७-१८ वर्ष की उम्र थी। स्वभाव में गम्भीरता थी। बातचीत बहुत सलीक़े से करता था। यहाँ आने के तीसरे दिन उसे बुख़ार आने लगा। दो-चार दिन तो ज्यों-त्यों करके काटे, लेकिन जब बुखार न छूटा, तो घबरा गया। घर की याद आयी। और कुछ न सही घरवाले क्या दवा-दर्पन भी न करेंगे! मेरे पास आकर बोला—महाशय, मैं बीमार हो गया हूँ। आप कुछ रुपये दे दें, तो घर चला जाऊँ। वहाँ जाते ही रुपयों का प्रबन्ध करके भेज दूँगा। वह वास्तव में बीमार था। मैं उससे भलीभाँति परिचित भी था। यह भी जानता था कि यहाँ रहकर वह कभी स्वास्थ्य-लाभ नहीं कर सकता। उसे सचमुच सहायता की जरूरत थी, पर मुझे शंका हुई कि कहीं यह भी रुपये हजम न कर जाय। जब एक विचारशील, सुयोग्य विद्वान् पुरुष धोखा दे सकता है, तो ऐसे अर्द्ध-शिक्षित नवयुवक से कैसे यह आशा की जाय कि वह अपने वचन का पालन करेगा?

मैं कई मिनट तक घोर संकट में पड़ा रहा। अन्त में बोला—भाई, मुझे तुम्हारी दशा पर बहुत दुःख है; मगर मैं इस समय कुछ न कर सकूँगा। बिल-कुल खाली हाथ हूँ। खेद है।

यह कोरा जवाब सुनकर उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे। वह बोला—आप चाहें तो कुछ-न-कुछ प्रबन्ध अवश्य कर सकते हैं। मैं जाते ही आपके रुपये भेज दूँगा।

मैंने दिल में कहा, यहाँ तो तुम्हारी नीयत साफ है; लेकिन घर पहुँचकर भी यही नीयत रहेगी, इसका क्या प्रमाण है। नीयत साफ रहने पर भी मेरे

रुपये दे सकोगे या नहीं, यही कौन जाने ? कम-से-कम तुमसे वसूल करने का मेरे पास कोई साधन नहीं। प्रकट में कहा—इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं, लेकिन खेद है, मेरे पास रुपये नहीं हैं। हाँ, तुम्हारी जितनी तनख्वाह निकलती हो, उसे ले सकते हो।

उसने कुछ जवाब नहीं दिया। किंकर्तव्य-विमूढ़ की तरह एक बार आकाश की ओर देखा, और चला गया। मेरे हृदय में कठिन वेदना हुई। और स्वार्थपरता पर ग्लानि हुई। पर अन्त को मैंने जो निश्चय किया था, उसी पर स्थित रहा। इस विचार से मन को सन्तोष हो गया कि मैं ऐसा कहाँ का धनी हूँ, जो यों रुपये पानी में फेंकता फिरूँ।

यह है उस कपट का परिणाम, जो मेरे कवि-मित्र ने मेरे साथ किया।

मालूम नहीं, आगे चलकर इस निर्दयता का क्या कुफल निकलता; पर सौभाग्य से उसकी नौबत न आयी। ईश्वर को मुझे इस अपयश से बचाना मंजूर था। जब वह आँखों में आँसू भरे मेरे पास से चला, तो कार्यालय के एक क्लर्क, पं० पृथ्वीनाथ, से उसकी भेंट हो गयी। पंडितजी ने सब हाल पूछा। पूरा वृत्तान्त सुन लेने पर बिना किसी आगे-पीछे के उन्होंने १५) निकालकर उसे दे दिये। ये रुपये उन्हें कार्यालय के मुनीम से उधार लेने पड़े। मुझे यह हाल मालूम हुआ, तो हृदय के ऊपर से एक बोझ-सा उतर गया। अब वह बेचारा मजे में अपने घर पहुँच जायगा यह सन्तोष मुफ़्त ही में प्राप्त हो गया। कुछ अपनी नीचता पर लज्जा भी आयी। मैं लम्बे-लम्बे लेखों में दया, मनुष्यता और सद्व्यवहार का उपदेश किया करता था, पर अवसर पड़ने पर साफ जान बचाकर निकल गया ! और, यह बेचारा क्लर्क जो मेरे लेखों का भक्त था, इतना उदार और दयाशील निकला ! गुरु गुड़ ही रहे, चेला शक्कर हो गये। खैर, इसमें भी एक व्यंग्य-पूर्ण सन्तोष था कि मेरे उपदेशों का असर मुझ पर न हुआ, न सही, दूसरों पर तो हुआ। चिराग के तले अँधेरा रहा, तो क्या हुआ, उसका प्रकाश तो फैल रहा है। पर कहीं बचा को रुपये न मिले (और शायद ही मिलें, इसकी बहुत कम आशा है) तो खूब छकेंगे। तब हजरत को आड़े हाथों लूँगा। किन्तु मेरी यह अभिलाषा न पूरी हुई। पाँचवें दिन रुपये आ गये। ऐसी, और आँखें खोल देनेवाली

यातना मुझे और कभी नहीं मिली थी। खैरियत यही थी कि मैंने इस घटना की चर्चा स्त्री से नहीं की थी; नहीं तो मुझे घर में रहना भी मुश्किल हो जाता।

(३)

उपर्युक्त वृत्तान्त लिखकर मैंने एक पत्रिका में भेज दिया। मेरा उद्देश्य केवल यह था कि जनता के सामने कपट व्यवहार के कुपरिणाम का एक दृश्य रखूँ। मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कि इसका कोई प्रत्यक्ष फल निकलेगा। इसी से जब चौथे दिन अनायास मेरे पास ५०) का मनीआर्डर पहुँचा, तो मेरे आनन्द की सीमा न रही। प्रेषक वही महाशय थे—उमापति। कूपन पर केवल 'क्षमा' लिखा हुआ था। मैंने रुपये ले जाकर पत्नी के हाथों में रख दिये, और कूपन दिखाया।

उसने अनमने भाव से कहा—इन्हें ले जाकर यत्न से अपने संदूक में रखो। तुम ऐसे लोभी प्रकृति के मनुष्य हो, यह मुझे आज ज्ञात हुआ। थोड़े से रुपयों के लिए किसी के पीछे पंजे झाड़कर पड़ जाना सज्जनता नहीं। जब कोई शिक्षित और विचारशील मनुष्य अपने वचन का पालन न करे, तो यही समझना चाहिए कि वह विवश है। विवश मनुष्य को बार-बार तकाजों से लज्जित करना भलमनसी नहीं है। कोई मनुष्य, जिसका सर्वथा नैतिक पतन नहीं हो गया है, यथाशक्ति किसी को धोखा नहीं देता। इन रुपयों को तब तक अपने पास नहीं रखूँगी, जब तक उमापति का कोई पत्र न आ जायगा कि रुपये भेजने में इतना विलम्ब क्यों हुआ।

पर इस समय मैं ऐसी उदार बातें सुनने को तैयार न था; डूबा हुआ धन मिल गदा, इसकी खुशी से फूला न समाता था।

आभूषण

आभूषणों कि निन्दा करना हमारा उद्देश्य नहीं। हम असहयोग का उत्पीड़न सह सकते हैं; पर ललनाओं के निर्दय, घातक वाक्य-बाणों को नहीं ओज

सकते। तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि इस तृष्णा की पूर्ति के लिए जितना त्याग किया जाता है, उसका सदुपयोग करने से महान् पद प्राप्त हो सकता है।

यद्यपि हमने किसी रूप-हीना महिला को आभूषणों की सजावट से रूपवती होते नहीं देखा, तथापि हम यह भी मान लेते हैं कि रूप के लिए आभूषणों की उतनी ही जरूरत है, जितनी घर के लिए दीपक की। किन्तु शारीरिक शोभा के लिए हम मन को कितना मलिन, चित्त को कितना अशान्त और आत्मा को कितना कलुषित बना लेते हैं, इसका हमें कदाचित् ज्ञान ही नहीं होता। इस दीपक की ज्योति में आँखें धुँधली हो जाती हैं। यह चमक-दमक कितनी ईर्ष्या, कितने द्वेष, कितनी प्रतिस्पर्द्धा, कितनी दुश्चिन्ता और कितनी दुराशा का कारण है; इसकी केवल कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन्हें भूषण नहीं दूषण कहना अधिक उपयुक्त है। नहीं तो यह कब हो सकता था कि कोई नववधू, पति के घर आने के तीसरे ही दिन, अपने पति से कहती कि मेरे पिता ने तुम्हारे पल्ले बाँधकर मुझे तो कुएँ में ढकेल दिया।

शीतला आज अपने गाँव के ताल्लुकेदार कुँवर सुरेशसिंह की नवविवाहिता वधू को देखने गयी थी। उसके सामने ही वह मंत्र-मुग्ध-सी हो गयी। बहू के रूप-लावण्य पर नहीं, उसके आभूषणों की जगमगाहट पर उसकी टकटकी लगी रही। और, वह जब से लौटकर घर आयी, उसकी छाती पर साँप लोटता रहा। अन्त को ज्योंही उसका पति घर आया, वह उस पर बरस पड़ी, और दिल में भरा हुआ गुबार पूर्वोक्त शब्दों में निकल पड़ा। शीतला के पति का नाम विमलसिंह था। उसके पुरखे किसी जमाने में इलाकेदार थे। इस गाँव पर भी उन्हीं का सोलहो आने अधिकार था। लेकिन अब इस घर की दशा हीन हो गयी है। सुरेशसिंह के पिता जमींदारी के काम में दक्ष थे। विमलसिंह का सब इलाका किसी-न-किसी प्रकार से उनके हाथ आ गया। विमल के पास सवारी का टट्टू भी न था; उसे दिन में दो बार भोजन भी मुश्किल से मिलता था। उधर सुरेश के पास हाथी, मोटर और कई घोड़े थे; दस-पाँच बाहर के आदमी नित्य द्वार पर खड़े रहते थे। पर इतनी विषमता होने पर भी दोनों में भाई-चारा निभाया जाता था, शादी-ब्याह में, मुंडन-छेदन में परस्पर आना-जाना होता रहता था। सुरेश विद्या-प्रेमी थे, हिन्दुस्तान में ऊँची शिक्षा समाप्त

करके वह योरप चले गये, और सब लोगों की शंकाओं के विपरीत वहाँ से आर्य-सभ्यता के परम भक्त बनकर लौटे थे। वहाँ के जड़वाद, कृत्रिम भोग-लिप्सा और अमानुषिक मदांधता ने उनकी आँखें खोल दी थीं। पहले वह घरवालों के बहुत जोर देने पर भी विवाह करने को राजी नहीं हुए। लड़की से पूर्व-परिचय हुए बिना प्रणय नहीं कर सकते थे। पर योरप से लौटने पर उनके वैवाहिक विचारों में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। उन्होंने उसी पहले की कन्या से, बिना उसके आचार-विचार जाने हुए विवाह कर लिया। अब वह विवाह को प्रेम का बन्धन नहीं, धर्म का बन्धन समझते थे। उसी सौभाग्य-वती वधू को देखने के लिए आज शीतला, अपनी सास के साथ, सुरेश के घर गयी थी। उसी के आभूषणों की छटा देखकर वह मर्माहत-सी हो गयी है। विमल ने व्यथित होकर कहा—तो माता-पिता से कहा होता, सुरेश से ब्याह कर देते। वही तुम्हें गहनों से लाद सकते थे।

शीतला—तो गाली क्यों देते हो

विमल—गाली नहीं देता, बात कहता हूँ। तुम-जैसी सुन्दरी को उन्होंने नाहक मेरे साथ ब्याहा।

शीतला—लजाते तो हो नहीं, उलटे और ताने देते हो!

विमल—भाग्य मेरे वश में नहीं है। इतना पढ़ा भी नहीं हूँ कि कोई बड़ी नौकरी करके रुपये कमाऊँ।

शीतला—यह क्यों नहीं कहते कि प्रेम ही नहीं है। प्रेम हो, तो कंचन बरसने लगे।

विमल—तुम्हें गहनों से बहुत प्रेम है?

शीतला—सभी को होता है। मुझे भी है।

विमल—अपने को अभागिनी समझती हो?

शीतला—हूँ ही, समझना कैसा? नहीं तो क्या दूसरे को देखकर तरसना पड़ता?

विमल—गहने बनवा दूँ, तो अपने को भाग्यवती समझने लगोगी?

शीतला—(चिढ़कर) तुम तो इस तरह पूछ रहे हो, जैसे सुनार दरवाजे पर बैठा है।

विमल—नहीं सच कहता हूँ, बनवा दूँगा। हाँ, कुछ दिन सबर करना पड़ेगा।

(२)

समर्थ पुरुषों को बात लग जाती है, तो वे प्राण ले लेते हैं। सामर्थ्य-हीन पुरुष अपनी ही जान पर खेल जाता है। विमलसिंह ने घर से निकल जाने की ठानी। निश्चय किया, या तो इसे गहनों से ही लाद दूँगा, या वैधव्य-शोक से; या तो आभूषण ही पहनेगी या सेंदुर को भी तरसेगी।

दिन-भर वह चिन्ता में डूबा पड़ा रहा। शीतला को उसने प्रेम से सन्तुष्ट करना चाहा था। आज अनुभव हुआ कि नारी का हृदय प्रेम-पाश से नहीं बँधता, कंचन के पाश ही से बँध सकता है। पहर रात जाते-जाते वह घर से चल खड़ा हुआ। पीछे फिरकर भी न देखा। ज्ञान के जागे हुए विराग में चाहे मोह का संस्कार हो, पर नैराश्य से जागा हुआ विराग अचल होता है। प्रकाश में इधर-उधर की वस्तुओं को देखकर मन विचलित हो सकता है। पर अन्धकार में किसका साहस है, जो लीक से जौ भर भी हट सके।

विमल के पास विद्या न थी, कला-कौशल भी न था; उसे केवल अपने कठिन परिश्रम और कठिन-त्याग ही का आधार था। वह पहले कलकत्ते गया। वहाँ कुछ दिन तक एक सेठ की दरबानी करता रहा। वहाँ जो सुन पाया कि रंगून में मजदूरी अच्छी मिलती है, तो रंगून जा पहुँचा; और बन्दर पर माल चढ़ाने उतारने का काम करने लगा।

कुछ तो कठिन श्रम, कुछ खाने-पीने का असंयम और कुछ जलवायु की खराबी के कारण वह बीमार हो गया। शरीर दुर्बल हो गया, मुख की कान्ति जाती रही; फिर भी उससे ज्यादा मेहनती मजदूर बन्दर पर दूसरा न था। और मजदूर-मजदूर थे, पर यह मजदूर तपस्वी था। मन में जो कुछ ठान लिया था, उसे पूरा करना ही उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था।

उसने घर को अपना कोई समाचार न भेजा। अपने मन से तर्क किया, घर में कौन मेरा हितू है? गहनों के सामने मुझे कौन पूछता है? उसकी बुद्धि यह रहस्य समझने में असमर्थ थी कि आभूषणों की लालसा रहने पर भी प्रणय का पालन किया जा सकता है। और मजदूर प्रातःकाल सेरों मिठाई खाकर

जल-पान करते, दिन-भर—दम-दम-भर पर—गाँजे, चरस और तमाखू के दम लगाते; अवकाश होते, तो बाजार की सैर करते थे। कितनों ही को शराब का शौक था। पैसों के बदले रुपये कमाते, तो पैसों की जगह रुपये खर्च भी कर डालते थे। किसी की देह पर साबित कपड़े तक न थे। पर विमल उस गिनती के दो-चार मजदूरों में से था, जो संयम से रहते थे, जिनके जीवन का उद्देश्य खा-पीकर मर जाने के सिवा कुछ और भी था। थोड़े ही दिनों में उसके पास थोड़ी-सी संपत्ति हो गयी। धन के साथ और मजदूरों पर दबाव भी बढ़ने लगा। यह प्रायः सभी जानते थे कि विमल जाति का कुलीन ठाकुर है। सब ठाकुर ही कहकर उसे पुकारते। संयम और आचार सम्मान-सिद्धि के मंत्र हैं। विमल मजदूरों का नेता और महाजन हो गया।

विमल को रंगून में काम करते तीन वर्ष हो चुके थे। सन्ध्या हो गयी थी। वह कई मजदूरों के साथ समुद्र के किनारे बैठा बातें कर रहा था।

एक मजदूर ने कहा—यहाँ की सभी स्त्रियाँ निठुर होती हैं। बेचारा झींगुर दस बरस से उस बर्मी स्त्री के साथ रहता था। कोई अपनी ब्याही जोरू से भी इतना प्रेम न करता होगा। उस पर इतना विश्वास करता था कि जो कुछ कमाता, उसके हाथ में रख देता। तीन लड़के थे। अभी कल तक दोनों साथ-साथ खाकर लेटे थे। न कोई लड़ाई, न झगड़ा; न बात, न चीत; रात को औरत न-जाने कब उठी, और न-जाने कहाँ चली गयी। लड़कों को छोड़ गयी। बेचारा झींगुर बैठा रो रहा है। सबसे बड़ी मुश्किल तो छोटे बच्चे की है। अभी कुल छः महीने का है। कैसे जियेगा, भगवान ही जाने।

विमलसिंह ने गंभीर भाव से कहा—गहने बनवाता था कि नहीं?

मजदूर—रुपए-पैसे तो औरत ही के हाथ में थे। गहने बनवाती, तो उसका हाथ कौन पकड़ता?

दूसरे मजदूर ने कहा—गहनों से तो लदी हुई थी। जिधर से निकल जाती थी, छम-छम की आवाज से कान भर जाते थे।

विमल—जब गहने बनवाने पर भी निठुराई की, तो यही कहना पड़ेगा कि यह जाति ही बेवफा होती है।

इतने में एक आदमी आकर विमलसिंह से बोला—चौधरी, अभी मुझे

एक सिपाही मिला था। वह तुम्हारा नाम, गाँव और बाप का नाम पूछ रहा था। कोई बाबू सुरेशसिंह हैं ?

विमल ने सशंक होकर कहा—हाँ, हैं। मेरे गाँव के इलाकेदार और बिरादरी के भाई हैं।

आदमी—उन्होंने थाने से कोई नोटिस निकलवाया है कि जो विमलसिंह का पता लगायेगा, उसे १०००) का इनाम मिलेगा।

विमल—तो तुमने सिपाही को सब ठीक-ठीक बता दिया ?

आदमी—चौधरी, मैं कोई गँवार हूँ क्या ? समझ गया, कुछ दाल में काला है; नहीं तो कोई इतने रुपये क्यों खर्च करता। मैंने कह दिया कि उनका नाम विमलसिंह नहीं, जसोदा पाँडे है। बाप का नाम सुक्खू बताया, और घर जिला झाँसी में। पूछने लगा, यहाँ कितने दिन से रहता है ? मैंने कहा, कोई दस साल से। तब कुछ सोचकर चला गया। सुरेश बाबू से तुममें कोई अदावत है ?

विमल—अदावत तो नहीं थी, मगर कौन जाने, उनकी नीयत बिगड़ गयी हो। मुझ पर कोई अपराध लगाकर मेरी जगह-जमीन पर हाथ बढ़ाना चाहते हों। तुमने बड़ा अच्छा किया कि सिपाही को उड़नघाई बताई।

आदमी—मुझसे कहता था कि ठीक-ठीक बता दो, तो ५०) तुम्हें भी दिला दूँ। मैंने सोचा, आप तो १,०००) की गठरी मारेगा, और मुझे ५०) दिलाने को कहता है। फटकार बता दी।

एक मजदूर—मगर जो २०) देने को कहता, तो तुम सब ठीक-ठीक नाम-ठिकाना बता देते; क्यों ? धत् तेरे लालची की !

आदमी—(लज्जित होकर) २००) नहीं २,०००) भी देता, तो न बताते। मुझे ऐसे विश्वासघात करनेवाला मत समझो। जब जी चाहे, परख लो।

मजदूरों में यों वाद-विवाद होता ही रहा, विमल आकर अपनी कोठरी में लेट गया। वह सोचने लगा—अब क्या करूँ ? जब सुरेश-जैसे सज्जन की नीयत बदल गयी, तो अब किसका भरोसा करूँ। नहीं, अब बिना घर गये काम न चलेगा। कुछ दिन और न गया, तो फिर कहीं का न होऊँगा। दो साल और रह जाता, तो पास में पूरे ५,०००) हो जाते। शीतला की इच्छा कुछ पूरी हो जाती। अभी तो सब मिलाकर ३,०००) ही होंगे; इतने में उसकी

अभिलाषा न पूरी होगी। खैर, अभी चलूँ। छः महीने में फिर लौट आऊँगा।। अपनी जायदाद तो बच जायगी। नहीं, छः महीने रहने का क्या काम है? जाने-आने में एक महीना लग जायगा। घर में १५ दिन से ज्यादा न रहूँगा। वहाँ कौन पूछता है, आऊँ या रहूँ, मरूँ या जिऊँ; वहाँ तो गहनों से प्रेम है।

इस तरह मन में निश्चय करके वह दूसरे दिन रंगून से चल पड़ा।

(३)

संसार कहता है कि गुण के सामने रूप की कोई हस्ती नहीं। हमारे नीति-शास्त्र के आचार्यों का भी यही कथन है। पर वास्तव में यह कितना भ्रम-मूलक है। कुँवर सुरेशसिंह को नववधू मंगलाकुमारी गृह-कार्य में निपुण, पति के इशारे पर प्राण देनेवाला, अत्यन्त विचारशीला, मधुर-भाषिणी और धर्म-भीरु थी, पर सौन्दर्यविहीन होने के कारण पति की आँखों में काँटे के समान खटकती थी। सुरेन्द्रसिंह बात-बात पर उस पर झुँझलाते, पर घड़ी-भर में पश्चात्ताप के वशीभूत होकर उससे क्षमा माँगते; किन्तु दूसरे ही दिन फिर वही कुत्सित व्यापार शुरू हो जाता। विपत्ति यह थी उनके आचरण अन्य रईसों की भाँति भ्रष्ट न थे। वह दाम्पत्य जीवन ही में आनन्द, सुख, शान्ति, विश्वास, प्रायः सभी ऐहिक और पारमार्थिक उद्देश्य पूरा करना चाहते थे, और दाम्पत्य-सुख से वञ्चित होकर उन्हें अपना समस्त जीवन नीरस, स्वादहीन और कुंठित जान पड़ता था। फल यह हुआ कि मंगला को अपने ऊपर विश्वास न रहा। वह अपने मन से कोई काम करते हुए डरती कि स्वामी नाराज़ होंगे। स्वामी को खुश करने के लिए अपनी भूलों को छिपाती, बहाने करती, झूठ बोलती। नौकरों को अपराध लगाकर आत्मरक्षा करना चाहती थी। पति को प्रसन्न रखने के लिए उसने अपने गुणों की, अपनी आत्मा की अवहेलना की; पर उठने के बदले वह पति की नजरों से गिरती ही गयी। वह नित्य नये शृंगार करती, पर लक्ष्य से दूर होती जाती। पति की एक मधुर मुसकान के लिए, उनके अधरों के एक मीठे शब्द के लिए, उसका प्यासा हृदय तड़प-तड़पकर रह जाता। लावण्य-विहीन स्त्री वह भिक्षुक नहीं है, जो चंगुल-भर आटे से सन्तुष्ट हो जाय। वह भी पति का सम्पूर्ण, अखंड प्रेम चाहती है, और कदाचित् सुन्द-रियों से अधिक; क्योंकि वह इसके लिए असाधारण प्रयत्न और अनुष्ठान

करती है। मंगला इस प्रयत्न में निष्फल होकर और भी सन्तप्त होती थी।

धीरे-धीरे पति पर से उसकी श्रद्धा उठने लगी। उसने तर्क किया कि ऐसे क्रूर, हृदय-शून्य, कल्पना-हीन मनुष्य से मैं भी उसी का-सा व्यवहार करूँगी। जो पुरुष केवल रूप का भक्त है, वह प्रेम-भक्ति के योग्य नहीं। इस प्रत्याघात ने समस्या और भी जटिल कर दी।

मगर मंगला को केवल अपनी रूप-हीनता ही का रोना न था, शीतला का अनुपम रूप-लालित्य भी उसकी कामनाओं का बाधक था, बल्कि यही उसकी आशा-लताओं पर पड़नेवाला तुषार था। मंगला सुन्दरी न सही, पर पति पर जान देती थी। जो अपने को चाहे, उससे हम विमुख नहीं हो सकते; प्रेम की शक्ति अपार है। पर शीतला की मूर्ति सुरेश के हृदय-द्वार पर बैठी हुई मंगला को अन्दर न जाने देती थी, चाहे वह कितना ही वेष बदलकर आये। सुरेश इस मूर्ति को हटाने की चेष्टा करते थे, उसे बलात् निकाल देना चाहते थे; किन्तु सौन्दर्य का आधिपत्य धन के आधिपत्य से कम दुर्निवार नहीं होता। जिस दिन शीतला इस घर में मँगला का मुँह देखने आयी थी, उसी दिन सुरेश की आँखों ने उसकी मनोहर छवि की झलक देख ली थी। वह एक झलक मानो एक क्षणिक क्रिया थी, जिसने एक ही धावे में समस्त हृदय-राज्य को जीत लिया—उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

सुरेश एकान्त में बैठे हुए शीतला के चित्र को मंगला से मिलाते, यह निश्चय करने के लिए कि उनमें अन्तर क्या है? एक क्यों मन को खींचती है, दूसरी क्यों उसे हटाती है? पर उनके मन का यह खिंचाव केवल एक चित्रकार या कवि का रसास्वादन मात्र था। वह पवित्र और वासनाओं से रहित था। वह मूर्ति केवल उनके मनोरंजन की सामग्री-मात्र थी। वह अपने मन को बहुत समझाते, संकल्प करते कि अब मंगला को प्रसन्न रखूँगा। यदि वह सुन्दरी नहीं है, तो उसका क्या दोष? पर उनका यह सब प्रयास मंगला के सम्मुख जाते ही विफल हो जाता। वह बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से मंगला के मन के बदलते हुए भावों को देखते; पर एक पक्षाघात-पीड़ित मनुष्य की भाँति घी के घड़े को लुढ़कते देखकर भी रोकने का कोई उपाय न कर सकते। परिणाम क्या होगा, यह सोचने का साहस ही न होता। पर जब मंगला ने अन्त

को बात-बात में उनकी तीव्र आलोचना करना शुरू कर दिया, वह उनसे उच्छृङ्खलता का व्यवहार करने लगी, तब उसके प्रति उनका वह उतना सौहार्द भी विलुप्त हो गया। घर में आना-जाना ही छोड़ दिया।

एक दिन सन्ध्या के समय बड़ी गरमी थी, पंखा झलने से आग और भी दहकती थी। कोई सैर करने बगीचों में भी न जाता था। पसीने की भाँति शरीर से सारी स्फूर्ति बह गयी थी। जो जहाँ था, वहीं मुर्दा-सा पड़ा था। आग से सेंके हुए मृदंग की भाँति लोगों के स्वर कर्कश हो गये थे। साधारण बातचीत में भी लोग उत्तेजित हो जाते, जैसे साधारण संघर्ष से वन के वृक्ष जल उठते हैं। सुरेशसिंह कभी चार कदम टहलते, फिर हाँफकर बैठ जाते। नौकरों पर झुँझला रहे थे कि जल्द-जल्द छिड़काव क्यों नहीं करते! सहसा उन्हें अन्दर से गाने की आवाज सुनायी दी। चौंके, फिर क्रोध आया। मधुर गान कानों को अप्रिय जान पड़ा। यह क्या बेवक्त की शहनाई है। यहाँ गरमी के मारे दम निकल रहा है, और इन सबको गाने की सूझी है! मंगला ने बुलाया होगा, और क्या! लोग नाहक कहते हैं कि स्त्रियों के जीवन का आधार प्रेम है। उनके जीवन का आधार वही भोजन, निद्रा, राग-रंग, आमोद-प्रमोद है, जो समस्त प्राणियों का है। घंटे-भर तो सुन चुका। यह गीत कभी बन्द होगा या नहीं; सब व्यर्थ में गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रही हैं।

अंत को न रहा गया। जनानेख़ाने में आकर बोले—यह तुम लोगों ने क्या काँव-काँव मचा रखी है? यह गाने-बजाने का कौन-सा समय है? बाहर बैठना मुश्किल हो गया!

सन्नाटा छा गया। जैसे शोर-गुल मचानेवाले बालकों में मास्टर पहुँच जाय। सभी ने सिर झुका लिये, और सिमट गयीं।

मंगला तुरन्त उठ कर सामनेवाले कमरे में चली गयी। पति को बुलाया, और आहिस्ते से बोली—क्यों इतना बिगड़ रहे हो?

'मैं इस वक्त गाना नहीं सुनना चाहता।'

'तुम्हें सुनाता ही कौन है? क्या मेरे कानों पर भी तुम्हारा अधिकार है?'

'फ़ज़ूल की बमचख—'

'तुमसे मतलब?'

'मैं अपने घर में यह कोलाहल न मचने दूँगा।'

'तो मेरा घर कहीं और है?'

सुरेशसिंह इसका उत्तर न देकर बोले—इन सबसे कह दो, फिर किसी वक्त आयें।

मंगला—इसलिए कि तुम्हें इनका आना अच्छा नहीं लगता?

'हाँ, इसीलिए!'

'तुम क्या सदा वही करते हो, जो मुझे अच्छा लगे? तुम्हारे यहाँ मित्र आते हैं, हँसी-ठट्ठे की आवाज अन्दर सुनायी देती है। मैं कभी नहीं कहती कि इन लोगों का आना बन्द कर दो। तुम मेरे कामों में दस्तन्दाजी क्यों करते हो?'

सुरेश ने तेज होकर कहा—इसलिए कि मैं घर का स्वामी हूँ।

मंगला—तुम बाहर के हो, यहाँ मेरा अधिकार है।

सुरेश—क्यों व्यर्थ की बक-बक करती हो? मुझे चिढ़ाने से क्या मिलेगा?

मंगला जरा देर चुप खड़ी रही। वह पति के मनोगत भावों की मीमांसा कर रही थी। फिर बोली—अच्छी बात है। अब इस घर में मेरा कोई अधिकार नहीं, तो न रहूँगी। अब तक भ्रम में थी। आज तुमने वह भ्रम मिटा दिया। मेरा इस घर पर अधिकार कभी नहीं था। जिस स्त्री का पति के हृदय पर अधिकार नहीं, उसका उसकी सम्पत्ति पर भी कोई अधिकार नहीं हो सकता।

सुरेश ने लज्जित होकर कहा—बात का बतंगड़ क्यों बनाती हो! मेरा यह मतलब न था। कुछ-का-कुछ समझ गयीं।

मंगला—मन की बात आदमी के मुँह से अनायास ही निकल जाती है। फिर सावधान होकर हम अपने भावों को छिपा लेते हैं।

सुरेश को अपनी असज्जनता पर दुःख तो हुआ, पर इस भय से कि मैं इसे जितना ही मनाऊँगा, उतना ही यह और जली-कटी सुनायेगी, उसे वहीं छोड़कर बाहर चले आये।

प्रातःकाल ठंडी हवा चल रही थी। सुरेश खुमारी में पड़े हुए स्वप्न देख रहे थे कि मंगला सामने से चली जा रही है। चौंक पड़े। देखा, द्वार पर सचमुच मंगला खड़ी है। घर की नौकरानियाँ आँचल से आँखें पोंछ रही हैं। कई

नौकर आस-पास खड़े हैं। सभी की आँखें सजल और मुख उदास है। मान वहू बिदा हो रही है।

सुरेश समझ गये कि मंगला को कल की बात लग गयी। पर उन्हों उठकर कुछ पूछने की, मनाने की, या समझाने की चेष्टा न की। यह मेर अपमान कर रही है; मेरा सिर नीचा कर रही है। जहाँ चाहे जाय। मुझ कोई मतलब नहीं। यों बिना कुछ पूछे-पाछे चले जाने का अर्थ यह है कि मैं इसका कोई नहीं। फिर मैं इसे रोकनेवाला कौन?

वह यों ही जड़वत् पड़े रहे, और मंगला चली गयी। उनकी तरफ मुँ उठाकर भी न ताका।

(४)

मंगला पाँव-पैदल चली जा रही थी। एक बड़े ताल्लुकेदार की औरत के लिए यह मामूली बात न थी। हर किसी की हिम्मत न पड़ती कि उससे कुछ कहे। पुरुष उसकी राह छोड़कर किनारे खड़े हो जाते थे। नारियाँ द्वार प खड़ी करुण-कौतूहल से देखती थीं, और आँखों से कहती थीं—हा निर्दय पुरुष! इतना भी न हो सका कि डोले पर तो बिठा देता।

इस गाँव से निकलकर मंगला उस गाँव में पहुँची, जहाँ शीतला रहत थी। शीतला सुनते ही द्वार पर आकर खड़ी हो गयी, और मंगला से बोली—बहन, जरा आकर दम ले लो।

मंगला ने अन्दर जाकर देखा, तो मकान जगह-जगह से गिरा हुआ था दालान में एक वृद्धा खाट पर पड़ी थी। चारो ओर दरिद्रता के चिह्न दिखायी देते थे।

शीतला ने पूछा—यह क्या हुआ?

मंगला—जो भाग्य में लिखा था।

शीतला—कुँवरजी ने कुछ कहा-सुना क्या?

मंगला—मुँह से कुछ न कहने पर भी तो मन की बात छिपी नहीं रहती।

शीतला—अरे, तो क्या अब यहाँ तक नौबत आ गयी!

दुःख की अन्तिम दशा संकोच-हीन होती है। मंगला ने कहा—चाहती, तो अब भी पड़ी रहती। उसी घर में जीवन कट जाता। पर जहाँ प्रेम नहीं,

मान नहीं, वहाँ अब मैं नहीं रह सकती।

शीतला—तुम्हारा मायका कहाँ है?

मंगला—मायके कौन मुँह लेकर जाऊँगी?

शीतला—तब कहाँ जाओगी?

मंगला—ईश्वर के दरबार में। पूछूँगी कि तुमने मुझे सुन्दरता क्यों नहीं दी? बदसूरत क्यों बनाया? बहन, स्त्री के लिए इससे अधिक दुर्भाग्य की बात नहीं कि वह रूप-हीन हो। शायद पुरबले जनम की पिशाचिनियाँ ही बदसूरत औरतें होती हैं। रूप से प्रेम मिलता है, और प्रेम से दुर्लभ कोई वस्तु नहीं।

यह कहकर मंगला उठ खड़ी हुई। शीतला ने उसे रोका नहीं; सोचा—इसे खिलाऊँगी क्या, आज तो चूल्हा जलने की कोई आशा नहीं।

उसके जाने के बाद वह बहुत देर तक बैठी सोचती रही—मैं कैसी अभागिन हूँ। जिस प्रेम को न पाकर यह बेचारी जीवन को त्याग रही है, उसी प्रेम को मैंने पाँव से ठुकरा दिया! इसे जेवर की क्या कमो थी। क्या ये सारे जड़ाऊ जेवर इसे सुखी रख सके? इसने उन्हें पाँव से ठुकरा दिया। उन्हीं आभूषणों के लिए मैंने अपना सर्वस्व खो दिया। हा! न-जाने वह (विमलसिंह) कहाँ हैं, किस दशा में हैं!

अपनी लालसा को, तृष्णा को, वह कितनी ही बार धिक्कार चुकी थी। मंगला की दशा देखकर आज उसे आभूषणों से घृणा हो गयी।

विमल को घर छोड़े दो साल हो गये थे। शीतला को अब उनके बारे में भाँति-भाँति की शंकाएँ होने लगीं। आठों पहर उसके चित्त में ग्लानि और क्षोभ की आग सुलगती रहती।

देहात के छोटे-मोटे जमींदारों का काम डाँट-डपट, छीन-झपट ही से चला करता है। विमल की खेती बेगार में होती थी। उसके जाने के बाद सारे खेत परती रह गये। कोई जोतनेवाला न मिला। इस खयाल से साझे पर भी किसी ने न जोता कि बीच में कहीं विमलसिंह आ गये, तो साझेदार को अँगूठा दिखा देंगे। असामियों ने लगान न दिया। शीतला ने महाजन से रुपये उधार लेकर काम चलाया। दूसरे वर्ष भी यही कैफ़ियत रही। अबकी महाजन ने भी रुपये न दिये। शीतला के गहनों के सिर गयी। दूसरा साल

समाप्त होते-होते घर की सब लेई-पूँजी निकल गयी। फाके होने लगे। बूढ़ी सास, छोटा, देवर, ननद और आप, चार प्राणियों का खर्च था। नात-हित भी आते ही रहते थे। उस पर यह और मुसीबत हुई कि मायके में एक फौजदारी हो गयी। पिता और बड़े भाई उसमें फँस गये। दो छोटे भाई, एक बहन और माता, चार प्राणी और सिर पर आ डटे। गाड़ी पहले ही मुश्किल से चलती थी, अब जमीन में धँस गयी।

प्रातःकाल से ही कलह आरंभ हो जाता। समधिन समधिन से, साले बहनोई से गुथ जाते। कभी तो अन्न के अभाव से भोजन ही न बनता; कभी भोजन बनने पर भी गाली-गलौज के कारण खाने की नौबत न आती। लड़के दूसरों के खेतों में जाकर गन्ने और मटर खाते; बूढ़ियाँ दूसरों के घर जाकर दुखड़ा रोतीं, और ठाकुर-सोहाती कहतीं! पुरुष की अनुपस्थिति में स्त्री के मायकेवालों का प्राधान्य हो जाता है। इस संग्राम में प्रायः विजयपताका मायकेवालों के ही हाथ रहती है। किसी भाँति घर में नाज आ जाता, तो उसे पीसे कौन! शीतला की माँ कहती, चार दिन के लिए आयी हूँ तो चक्की चलाऊँ? सास कहती, खाने की बेर तो बिल्ली के तरह लपकेंगी, पीसते क्यों जान निकलती है? विवश होकर शीतला को अकेले पीसना पड़ता। भोजन के समय वह महाभारत मचता कि पड़ोसवाले तंग आ जाते। शीतला कभी माँ के पैरों पड़ती, कभी सास के चरण पकड़ती; लेकिन दोनो ही उसे झिड़क देतीं। मा कहती, तूने यहाँ बुलाकर हमारा पानी उतार लिया। सास कहती, मेरी छाती पर सौत लाकर बैठा दी, अब बातें बनाती है। इस घोर विवाद में शीतला अपना विरह-शोक भूल गयी। सारी अमंगल शंकाएँ इस विरोधाग्नि में शांत हो गयी। बस, अब यही चिन्ता थी कि इस दशा से छुटकारा कैसे हो? मा और सास, दोनो ही का यमराज के सिवा और कहीं ठिकाना न था; पर यमराज उनका स्वागत करने के लिए बहुत उत्सुक नहीं जान पड़ते थे। सैकड़ों उपाय सोचती; पर उस पथिक की भाँति, जो दिन-भर चलकर भी अपने द्वार ही पर खड़ा हो, उसकी सोचने की शक्ति निश्चल हो गयी थी। चारों तरफ निगाहें दौड़ाती कि कहीं कोई शरण का स्थान है? पर कहीं निगाह न जमती।

एक दिन इसी नैराश्य की अवस्था में द्वार पर खड़ी थी। मुसीबत में, चित्त की उद्विग्नता में, द्वार से प्रेम-सा हो जाता है। सहसा उसने बाबू सुरेशसिंह को सामने से घोड़े पर जाते देखा। उसकी आँखें उनकी ओर फिरीं। आँखें मिल गयीं। वह झिझककर पीछे हट गयी। किवाडे बंद कर लिये। कुँवर साहब आगे बढ़ गये। शीतला को खेद हुआ कि उन्होंने मुझे देख लिया। मेरे सिर पर साड़ी फटी हुई थी, चारों तरफ उसमें पेबन्द लगे हुए थे। वह अपने मन में न जाने क्या कहते होंगे?

कुँवर साहब को गाँववालों से विमलसिंह के परिवार के कष्टों की खबर मिली थी। वह गुप्त रूप से उनकी कुछ सहायता करना चाहते थे। पर शीतला को देखते ही संकोच ने उन्हें ऐसा दबाया कि द्वार पर एक क्षण भी न रुक सके। मंगला के गृह-त्याग के तीन महीने बाद आज वह पहली बार घर से निकले थे। मारे शर्म के बाहर बैठना छोड़ दिया था।

इसमें सन्देह नहीं कि कुँवर साहब मन में शीतला के रूप-रस का आस्वादन करते थे। मंगला के जाने के बाद उनके हृदय में एक विचित्र दुष्कामना जग उठी। क्या किसी उपाय से यह सुन्दरी मेरी नहीं हो सकती? विमल का मुद्दत से पता नहीं। बहुत सम्भव है कि वह अब संसार में न हो। किन्तु वह इस दुष्कल्पना को विचार से दबाते रहते थे। शीतला की विपत्ति की कथा सुनकर भी वह उसकी सहायता करते डरते थे। कौन जाने वासना यही वेष रखकर मेरे विचार और विवेक पर कुठाराघात न करना चाहती हो। अन्त को लालसा की कपट-लीला उन्हें भुलावा दे ही गयी। वह शीतला के घर उसका हाल-चाल पूछने गये। मन में तर्क किया—यह कितना घोर अन्याय है कि एक अबला ऐसे संकट में हो, और मैं उसकी बात भी न पूछूँ! पर वहाँ से लौटे तो, बुद्धि और विवेक की रस्सियाँ टूट गयी थीं, नौका मोह और वासना के अपार सागर में डुबकियाँ खा रही थी। आह! यह मनोहर छवि, यह अनुपम सौन्दर्य!

एक क्षण में उन्मत्तों की भाँति बकने लगे—यह प्राण और यह शरीर तेरी भेंट करता हूँ। संसार हँसेगा, हँसे। महापाप है, हो। कोई चिन्ता नहीं, इस स्वर्गीय आनन्द से मैं अपने को वंचित नहीं कर सकता। वह मुझसे भाग नहीं

सकती। इस हृदय को छाती से निकालकर उसके पैरों पर रख दूँगा। विमल ! मर गया। नहीं मरा, तो अब मरेगा। पाप क्या है ? कोई बात नहीं। कमल कितना कोमल, कितना प्रफुल्ल, कितना ललित है ! क्या उसके अधरों....

अकस्मात् वह ठिठक गये, जैसे कोई भूली हुई बात याद आ जाय ! मनुष्य में बुद्धि के अन्तर्गत एक अज्ञात बुद्धि होती है। जैसे रण-क्षेत्र में हिम्मत हारकर भगानेवाले सैनिकों को किसी गुप्त स्थान से आनेवाली कुमक सँभाल लेती है वैसे ही अज्ञात बुद्धि ने सुरेश को सचेत कर दिया। वह सँभल गये। ग्लानि से उनकी आँखें भर आयीं। वह कई मिनट तक किसी दंडित कैदी की भाँति क्षुब्ध खड़े सोचते रहे। फिर विजय-ध्वनि से कह उठे—कितना सरल है। इस विकार के हाथी को सिंह से नहीं, चिउँटी से मारूँगा। शीतला को एक बार 'बहन' कह देने से ही यह सब विकार शान्त हो जायगा। शीतला ! बहन ! मैं तेरा भाई हूँ !

उसी क्षण उन्होंने शीतला को पत्र लिखा—बहन, तुमने इतने कष्ट झेले, पर मुझे ख़बर तक न दी ! मैं कोई ग़ैर न था। मुझे इसका दुःख है। ख़ैर, अब ईश्वर ने चाहा, तो तुम्हें कष्ट न होगा। इस पत्र के साथ उन्होंने नाज और रुपये भेजे।

शीतला ने उत्तर दिया—भैया, क्षमा करो। जब तक जीऊँगी, तुम्हारा यश गाऊँगी। तुमने मेरी डूबती नाव पार लगा दी।

(५)

कई महीने बीत गए। सन्ध्या का समय था। शीतला अपनी मैना को चारा चुगा रही थी। उसे सुरेश नैपाल से उसी के वास्ते लाये थे। इतने में सुरेश आकर आँगन में बैठ गये।

शीतला ने पूछा—कहाँ से आते हो, भैया ?

सुरेश—गया था जरा थाने। कुछ पता नहीं चला। रंगून में पहले कुछ पता मिला था। बाद को मालूम हुआ कि वह कोई और आदमी है। क्या करूँ ? इनाम और बढ़ा दूँ ?

शीतला—तुम्हारे पास रुपए बढ़े हैं, फूँको। उनकी इच्छा होगी, तो आप ही आयेंगे।

सुरेश—एक बात पूछूँ, बताओगी ? किस बात पर तुमसे रूठे थे ?

शीतला—कुछ नहीं, मैंने यही कहा कि मुझे गहने बनवा दो। कहने लगे, मेरे पास है क्या। मैंने कहा (लजाकर), तो ब्याह क्यों किया ? बस, बातों-ही-बातों में तकरार मान गये।

इतने में शीतला की सास आ गयी। सुरेश ने शीतला की मा और भाइयों को उनके घर पहुँचा दिया था, इसलिए यहाँ अब शान्ति थी। सास ने बहू की बात सुन ली थी। कर्कश स्वर से बोली—बेटा, तुमसे क्या परदा है। यह महरानी देखने ही को गुलाब की फूल हैं, अन्दर सब काँटे हैं। यह अपने बनाव-सिंगार के आगे विमल की बात ही न पूछती थी। बेचारा इस पर जान देता था; पर इसका मुँह ही न सीधा होता था। प्रेम तो इसे छू नहीं गया। अन्त को उसे देश से निकालकर इसने दम लिया।

शीतला ने रुष्ट होकर कहा—क्या वही अनोखे धन कमाने घर से निकले हैं ? देश-विदेश जाना मरदों का काम है।

सुरेश—योरप में तो धन-भोग के सिवा स्त्री-पुरुष में कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। बहन ने योरप में जन्म लिया होता, तो हीरे-जवाहिर से जगमगाती होतीं। शीतला, अब तुम ईश्वर से यही कहना कि सुन्दरता देते हो, तो योरप में जन्म दो।

शीतला ने व्यथित होकर कहा—जिनके भाग्य में लिखा है, वे यहीं सोने से लदी हुई हैं। मेरी भाँति सभी के करम थोड़े ही फूट गये हैं !

सुरेशसिंह को ऐसा जान पड़ा कि शीतला की मुख-कान्ति मलिन हो गयी है। पति-वियोग में भी गहनों के लिए इतनी लालायित है ! बोले अच्छा, मैं तुम्हें गहने बनवा दूँगा।

यह वाक्य कुछ अपमान-सूचक स्वर में कहा गया था; पर शीतला की आँखें आनन्द से सजल हो आयीं, कंठ गद्‌गद हो गया। उसके हृदय-नेत्रों के सामने मंगला के रत्न-जटित आभूषणों का चित्र खिंच गया। उसने कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से सुरेश को देखा। मुँह से कुछ न बोली; पर उसका प्रत्येक अंग कह रहा था— मैं तुम्हारी हूँ।

(६)

कोयल आम की डालियों पर बैठकर, मछली शीतल, निर्मल जल में क्रीड़ा कर और मृग-शावक विस्तृत हरियालियों में छलाँगें भरकर इतने प्रसन्न नहीं होते, जितना मंगला के आभूषणों को पहनकर शीतला प्रसन्न हो रही है। उसके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। वह आकाश में विचरती हुई जान पड़ती है। वह दिन-भर आईने के समान खड़ी रहती है; कभी केशों को सँवारती है, कभी सुरमा लगाती है। कुहरा फट गया है; और निर्मल स्वच्छ चाँदनी निकल आयी है। वह घर का एक तिनका भी नहीं उठाती। उनके स्वभाव में एक विचित्र गर्व का संचार हो गया है।

लेकिन श्रृंगार क्या है? सोयी हुई काम-वासना को जगाने का घोर नाद —उद्दीपना का मन्त्र। शीतला जब नख-शिख से सजकर बैठती है, तो उसे प्रबल इच्छा होती है कि मुझे कोई देखे। वह द्वार पर आकर खड़ी हो जाती है। गाँव की स्त्रियों की प्रशंसा से उसे सन्तोष नहीं होता। गाँव के पुरुषों को वह श्रृंगार-रस-विहीन समझती है। इसलिए सुरेशसिंह को बुलाती है। पहले वह दिन में एक बार आ जाते थे; अब शीतला के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी नहीं आते।

पहर रात गयी थी। घरों के दीपक बुझ चुके थे। शीतला के घर में दीपक जल रहा था। उसने कुँवर साहब के बग़ीचे से बेले के फूल मँगवाये थे, और बैठी हार गूँथ रही थी—अपने लिए नहीं, सुरेश के लिए। प्रेम के सिवा एहसान का बदला देने के लिए उसके पास और था ही क्या?

एकाएक कुत्तों के भूँकने की आवाज सुनायी दी, और दम-भर में विमलसिंह ने मकान के अन्दर क़दम रखा। उनके एक हाथ में सन्दूक थी, दूसरे हाथ में एक गठरी। शरीर दुर्बल, कपड़े मैले, दाढ़ी के बाल बढ़े हुए, मुख पीला; जैसे कोई कैदी जेल से निकलकर आया हो। दीपक का प्रकाश देखकर वह शीतला के कमरे की तरफ़ चले। मैना पिंजरे में तड़फड़ाने लगी। शीतला ने चौंककर सिर उठाया। घबराकर बोली—कौन? फिर पहचान गयी। तुरन्त फूलों को एक कपड़े से छिपा उठ खड़ी हुई, और सिर झुकाकर पूछा—इतनी जल्दी सुध ली!

विमल ने कुछ जवाब न दिया। विस्मित हो-होकर कभी शीतला को देखता और कभी घर को। मानो किसी नये संसार में पहुँच गया है। यह वह अध-खिला फूल न था, जिसकी पंखड़ियाँ अनुकूल जल-वायु न पाकर सिमट गयी थीं। यह पूर्ण विकसित कुसुम था—ओस के जल-कणों से जगमगाता और वायु के झोंकों से लहराता हुआ। विमल उसकी सुन्दरता पर पहले भी मुग्ध था। पर यह ज्योति वह अग्नि-ज्वाला थी, जिससे हृदय में ताप और आँखों में जलन होती थी। ये आभूषण, ये वस्त्र, यह सजावट! उसके सिर में चक्कर-सा आ गया। ज़मीन पर बैठ गया। इस सूर्यमुखी के सामने बैठते हुए उसे लज्जा आती थी। शीतला अभी तक स्तम्भित खड़ी थी। वह पानी लाने नहीं दौड़ी, उसने पति के चरण नहीं धोये, उसने पंखा तक नहीं झला। वह हत-बुद्धि-सी हो गयी थी! उसने कल्पनाओं की कैसी सुरम्य वाटिका लगायी थी! उस पर तुषार पड़ गया! वास्तव में इस मलिन-वदन, अर्द्ध-नग्न पुरुष से उसे घृणा हो रही थी। यह घर का जमींदार विमल न था। वह मजदूर हो गया था। मोटा काम मुखाकृति पर असर डाले बिना नहीं रहता। मज़दूर सुन्दर वस्त्रों में भी मज़दूर ही रहता है।

सहसा विमल को मा चौंकी। शीतला के कमरे में आयी, तो विमल को देखते ही मातृस्नेह से विह्वल होकर उसे छाती से लगा लिया। विमल ने उसके चरणों पर सिर रखा। उसकी आँखों से आँसुओं की गरम-गरम बूँदें निकल रही थीं। मा पुलकित हो रही थी। मुख से बात न निकलती थी।

एक क्षण में विमल ने कहा—अम्माँ!

कंठ-ध्वनि ने उसका आशय प्रकट कर दिया।

मा ने प्रश्न समझकर कहा—नहीं बेटा, यह बात नहीं है।

विमल—यह देखता क्या हूँ!

मा—स्वभाव ही ऐसा है, तो कोई क्या करे!

विमल—सुरेश ने मेरा हुलिया क्यों लिखाया था?

मा—तुम्हारी खोज लेने के लिए। उन्होंने दया न की होती, तो आज घर में किसी को जीता न पाते।

विमल—बहुत अच्छा होता।

शीतला ने ताने से कहा—अपनी ओर से तो तुमने सबको मार ही डाल था। फूलों की सेज बिछा गये थे न ?

विमल—अब तो फूलों की सेज ही बिछी हुई देखता हूँ।

शीतला—तुम किसी के भाग्य के विधाता हो !

विमलसिंह उठकर क्रोध से काँपता हुआ बोला—अम्माँ, मुझे यहाँ से ले चलो। मैं इस पिशाचिनी का मुँह नहीं देखना चाहता। मेरी आँखों में खून उतरता चला आता है। मैंने इस कुल-कलंकिनी के लिए तीन साल तक जो कठिन तपस्या की है, उससे ईश्वर मिल जाता; पर इसे न पा सका !

यह कहकर वह कमरे से निकल आया, और मा के कमरे में लेट रहा। मा ने तुरन्त उसका मुँह और हाथ-पैर धुलाये। वह चूल्हा जलाकर पूरियाँ पकाने लगी। साथ-साथ घर की विपत्ति-कथा भी कहती जाती थी। विमल के हृदय में सुरेश के प्रति जो विरोधाग्नि प्रज्वलित हो रही थी, वह शान्त हो गयी; लेकिन हृदय-दाह ने रक्त-दाह का रूप धारण किया। ज़ोर का बुखार चढ़ आया। लम्बी यात्रा की थकन और कष्ट तो था ही, बरसों के कठिन श्रम और तप के बाद यह मानसिक सन्ताप और भी दुस्सह हो गया।

सारी रात वह अचेत पड़ा रहा। मा बैठी पंखा झलती और रोती रही। दूसरे दिन भी वह बेहोश पड़ा रहा। शीतला उसके पास एक क्षण के लिए भी न आयी। इन्होंने मुझे कौन सोने के कौर खिला दिये हैं, जो इनकी धौंस सहूँ। यहाँ तो जैसे 'कंता घर रहे, वैसे रहे विदेस।' किसी की फूटी कौड़ी नहीं जानती। बहुत ताव दिखाकर तो गये थे। क्या लाद लाये ?

सन्ध्या के समय सुरेश को खबर मिली। तुरन्त दौड़े हुए आये। आज दो महीने बाद उन्होंने इस घर में कदम रखा। विमल ने आँखें खोलीं, पहचान गया। आँखों से आँसू बहने लगे। सुरेश के मुखारविंद पर दया की ज्योति झलक रही थी। विमल ने उनके बारे में जो अनुचित सन्देह किया था, उसके लिए वह अपने को धिक्कार रहा था।

शीतला ने ज्योंही सुना कि सुरेशसिंह आये हैं तुरन्त शीशे के सामने गयी, केश छिटका लिये, और विषाद की मूर्ति बनी हुई विमल के कमरे में आयी। कहाँ तो विमल की आँखें बन्द थीं, मूर्च्छित-सा पड़ा था, कहाँ शीतला के आते

ही आँखें खुल गयीं। अग्निमय नेत्रों से उसकी ओर देखकर बोला—अभी आयी है ? आज के तीसरे दिन आना। कुँवर साहब से उस दिन फिर भेंट हो जायगी।

शीतला उलटे-पाँव चली गयी। सुरेश पर घड़ों पानी पड़ गया। मन में सोचा—कितना रूप-लावण्य है; पर कितना विषाक्त ! हृदय की जगह केवल शृङ्गार-लालसा !

आतंक बढ़ता ही गया। सुरेश ने डॉक्टर बुलवाये। पर मृत्युदेव ने किसी की न मानी। उनका हृदय पाषाण है। किसी भाँति नहीं पसीजता। कोई अपना हृदय निकालकर रख दे, आँसुओं की नदी बहा दे; पर उन्हें दया नहीं आती। बसे हुए घर को उजाड़ना, लहराती हुई खेती को सुखाना उनका काम है। और, उनकी निर्दयता कितनी विनोदमय है ? वह नित्य नये रूप बदलते रहते हैं। कभी दामिनी बन जाते हैं, तो कभी पुष्प-माला। कभी सिंह बन जाते हैं, तो कभी सियार। कभी अग्नि के रूप में दिखायी देते हैं, तो कभी जल के रूप में।

तीसरे दिन, पिछली रात को विमल की मानसिक पीड़ा और हृदय-ताप का अन्त हो गया। चोर दिन को कभी चोरी नहीं करता। यम के दूत प्रायः रात को ही सबकी नजरें बचाकर आते हैं, और प्राण-रत्न को चुरा ले जाते हैं। आकाश के फूल मुरझाये हुए थे। वृक्ष-समूह स्थिर थे; पर शोक में मग्न, सिर झुकाये हुए। रात शोक का बाह्य रूप है। रात मृत्यु का क्रीड़ा-क्षेत्र है। उसी समय विमल के घर से आर्त-नाद सुनायी दिया—वह नाद, जिसे सुनने के लिए मृत्युदेव विकल रहते हैं।

शीतला चौंक पड़ी, और घबरायी हुई मरण-शय्या की ओर चली। उसने मृत देह पर निगाह डाली, और भयभीत होकर एक पग पीछे हट गयी। उसे जान पड़ा, विमलसिंह उसकी ओर अत्यन्त तीव्र दृष्टि से देख रहे हैं। बुझे हुए दीपक में उसे भयंकर ज्योति दिखायी पड़ी। वह मारे भय के वहाँ ठहर न सकी। द्वार से निकल ही रही थी कि सुरेशसिंह से भेंट हो गयी। कातर स्वर में बोली—मुझे यहाँ डर लगता है। उसने चाहा कि रोती हुई उनके पैरों पर गिर पड़ूँ; पर वह अलग हट गये।

(७)

जब किसी पथिक को चलते-चलते ज्ञात होता है कि मैं रास्ता भूल गया हूँ, तो वह सीधे रास्ते पर आने के लिए बड़े वेग से चलता है। झुँझलाता है कि मैं इतना असावधान क्यों हो गया? सुरेश भी अब शान्ति-मार्ग पर आने के लिए विकल हो गये। मंगला की स्नेहमयी सेवाएँ याद आने लगीं। हृदय में वास्तविक सौन्दर्योपासना का भाव उदय हुआ। उसमें कितना प्रेम, कितना त्याग था, कितनी क्षमा थी! उसकी अतुल पति-भक्ति को याद करके कभी कभी वह तड़प जाते। आह! मैंने घोर अत्याचार किया। ऐसे उज्ज्वल रत्न का आदर न किया। मैं यहीं जड़वत् पड़ा रहा, और मेरे सामने ही लक्ष्मी घर से निकल गयी! मंगला ने चलते-चलते शीतला से जो बातें कही थीं, वे उन्हें मालूम थीं। पर उन बातों पर विश्वास न होता था। मंगला शान्त-प्रकृति की थी; वह इतनी उद्दण्डता नहीं कर सकती। उसमें क्षमा थी; वह इतना विद्वेष नहीं कर सकती। उनका मन कहता था कि जीती है, और कुशल से है। उसके मायकेवालों को कई पत्र लिखे। पर वहाँ व्यंग्य और कटु वाक्यों के सिवा और क्या रखा था? अन्त को उन्होंने लिखा—अब उस रत्न की खोज में मैं स्वयं जाता हूँ। या तो लेकर ही आऊँगा, या कहीं मुँह में कालिख लगाकर डूब मरूँगा।

इस पत्र का उत्तर आया—अच्छी बात है, जाइए, पर यहाँ से होते हुए जाइएगा। यहाँ से भी कोई आपके साथ चला जायगा।

सुरेशसिंह को इन शब्दों में आशा की झलक दिखायी दी। उसी दिन प्रस्थान कर दिया। किसी को साथ नहीं लिया।

ससुराल में किसी ने उनका प्रेममय स्वागत नहीं किया। सभी के मुँह फूले हुए थे। ससुरजी ने तो उन्हें पति-धर्म पर एक लम्बा उपदेश दिया।

रात को जब वह भोजन करके लेटे, तो छोटी साली आकर बैठ गयी, और मुस्कराकर बोली—जीजाजी, कोई सुन्दरी अपने रूप-हीन पुरुष को छोड़ दे, उसका अपमान करे, तो आप उसे क्या कहेंगे?

सुरेश—(गम्भीर स्वर से) कुटिला!

साली—और ऐसे पुरुष को, जो अपनी रूप-हीन स्त्री को त्याग दे?

सुरेश—पशु!

साली—और जो पुरुष विद्वान् हो?

सुरेश—पिशाच!

साली—(हँसकर) तो मैं भागती हूँ। मुझे आपसे डर लगता है।

सुरेश—पिशाचों का प्रायश्चित भी तो स्वीकार हो जाता है।

साली—शर्त यह है कि प्रायश्चित सच्चा हो।

सुरेश—यह तो वह अन्तर्यामी ही जान सकते हैं।

साली—सच्चा होगा, तो उसका फल भी अवश्य मिलेगा। मगर दीदी को लेकर इधर ही से लौटिएगा।

सुरेश की आशा-नौका डगमगायी। गिड़गिड़ाकर बोले—प्रभा, ईश्वर के लिए मुझ पर दया करो, मैं बहुत दुखी हूँ। साल-भर से ऐसा कोई दिन नहीं गया कि मैं रोकर न सोया होऊँ।

प्रभा ने उठकर कहा—अपने किये का क्या इलाज? जाती हूँ, आराम कीजिए।

एक क्षण में मंगला की माता आकर बैठ गयी, और बोली—बेटा, तुमने तो बहुत पढ़ा-लिखा है, देस-विदेस-घूम आये हो, सुन्दर बनने की कोई दवा कहीं नहीं देखी?

सुरेश ने विनय-पूर्वक कहा—माताजी, अब ईश्वर के लिए और लज्जित न कीजिए।

माता—तुमने तो मेरी बेटी के प्राण ले लिये! मैं क्या तुम्हें लज्जित करने से भी गयी! जी में तो था कि ऐसी-ऐसी सुनाऊँगी कि तुम भी याद करोगे; पर मेरे मेहमान हो, क्या जलाऊँ? आराम करो।

सुरेश आशा और भय की दशा में पड़े करवटें बदल रहे थे कि एकाएक द्वार पर किसी ने धीरे से कहा—जाती क्यों नहीं, जागते तो हैं!

किसी ने जवाब दिया—लाज आती है।

सुरेश ने आवाज़ पहचानी। प्यासे को पानी मिल गया। एक क्षण में मंगला उनके सम्मुख आयी, और सिर झुकाकर खड़ी हो गयी। सुरेश को उसके मुख पर एक अनूठी छवि दिखायी दी, जैसे कोई रोगी स्वास्थ्य-लाभ

कर चुका हो।

रूप वही था, पर आँखें और थीं।

राज्य-भक्त

सन्ध्या का समय था। लखनऊ के बादशाह नासिरुद्दीन अपने मुसाहब और दरबारियों के साथ बाग की सैर कर रहे थे। उनके सिर पर रत्न-जटि मुकुट की जगह अँग्रेजी टोपी थी। वस्त्र भी अँग्रेजी ही थे। मुसाहबों में पाँ अँग्रेज थे। उनमें से एक के कंधे पर सिर रखकर बादशाह चल रहे थे तीन-चार हिन्दुस्तानी भी थे। उनमें एक राजा बख़्तावरसिंह थे। वह बाद शाही सेना के अध्यक्ष थे। उन्हें सब लोग 'जेनरल' कहा करते थे। वह अधे आदमी थे। शरीर खूब गठा हुआ था। लखनवी पहनाव उन पर बहुत सजत था। मुख से विचारशीलता झलक रही थी। दूसरे महाशय का नाम रोशन् दौला था। यह राज्य के प्रधान मंत्री थे। बड़ी-बड़ी मूछें और नाटा डील थ जिसे ऊँचा करने के लिए वह तनकर चलते थे। नेत्रों से गर्व टपक रहा था शेष लोगों में एक कोतवाल था, और दो बादशाह के रक्षक। यद्यपि अभ १९वीं शताब्दी का आरम्भ ही था, पर बादशाह ने अँग्रेजी रहन-सहन अख़्ति यार कर ली थी। भोजन भी प्रायः अँग्रेजी करते थे। अँग्रेजों पर उनक असीम विश्वास था। वह सदैव उनका पक्ष लिया करते। मजाल न थी वि कोई बड़े-से-बड़ा राजा या राजकर्मचारी किसी अँग्रेज से बराबरी करने क साहस कर सके।

अगर किसी में यह हिम्मत थी, तो वह राजा बख़्तावरसिंह थे। उन्हें कम्पनी का बढ़ता हुआ अधिकार न देखा जाता था; कम्पनी की उस सेन की संख्या, जिसे उसने अवध के राज्य की रक्षा के लिए लखनऊ में नियुक्त की थी, दिन-दिन बढ़ती जाती थी। उसी परिमाण से सेना का व्यय भी बढ़ रहा था। राजदरबार उसे चुका न सकने के कारण कम्पनी का ऋणी होत

जाता था। बादशाही सेना की दशा हीन-से-हीनतर होती जाती थी। उसमें न संगठन था, न बल। बरसों तक सिपाहियों का वेतन न मिलता। शस्त्र सभी पुराने ढंग के, वरदी फटी हुई, कवायद का नाम नहीं। कोई उनको पूछनेवाला न था। अगर राजा बख्तावरसिंह वेतन-वृद्धि या नये शस्त्रों के सम्बन्ध में कोई प्रयत्न करते, तो कम्पनी का रेज़ीडेंट उसका घोर विरोध और राज्य पर विद्रोहात्मक शक्ति-संचार का दोषारोपण करता। उधर से डाट पड़ती, तो बादशाह अपना गुस्सा राजा साहब पर उतारते। बादशाह के सभी अँग्रेज मुसाहब राजा साहब से शंकित रहते, और उनकी जड़ खोदने का प्रयास करते थे। पर वह राज्य का सेवक एक ओर से अवहेलना और दूसरी ओर से घोर विरोध सहते हुए भी अपने कर्त्तव्य का पालन करता जाता था। मजा यह कि सेना भी उनसे सन्तुष्ट न थी। सेना में अधिकांश लखनऊ के सोहदे और गुण्डे भरे हुए थे। राजा साहब उन्हें हटाकर अच्छे-अच्छे जवान भरती करने की चेष्टा करते, तो सारी सेना में हाहाकार मच जाता। लोगों को शंका होती कि यह राजपूतों की सेना बनाकर कहीं राज्य ही पर तो हाथ नहीं बढ़ाना चाहते? इसलिए मुसलमान भी उनसे बदगुमान रहते थे। राजा साहब के मन में बार-बार प्रेरणा होती कि इस पद को त्याग कर चले जायँ, पर यह भय उन्हें रोकता था कि मेरे हटते ही अँग्रेजों की बन आयेगी, और बादशाह उनके हाथों में कठपुतली बन जायँगे; रही-सही सेना के साथ अवध-राज्य का अस्तित्व भी मिट जायगा। अतएव इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी, वह अपने पद से हटने का निश्चय न कर सकते थे। सबसे कठिन समस्या यह थी कि रोशनुद्दौला भी राजा साहब से खार खाता था। उसे सदैव शंका रहती थी कि यह मराठों से मैत्री करके अवध-राज्य को मिटाना चाहते हैं। इसलिए वह भी राजा साहब के प्रत्येक कार्य में बाधा डालता रहता। उसे अब भी आशा थी कि अवध का मुसलमानी राज्य अगर जीवित रह सकता है, तो अँग्रेजों के संरक्षण में, अन्यथा वह अवश्य हिन्दुओं की बढ़ती हुई शक्ति का ग्रास बन जायगा।

वास्तव में बख्तावरसिंह की दशा अत्यन्त करुण थी। वह अपनी चतुराई से जिह्वा की भाँति दाँतों के बीच में पड़े हुए अपना काम किये जाते थे। यों

तो वह स्वभाव से अक्खड़ थे, पर अपना काम निकालने के लिए मधुरता औ मृदुलता, शील और विनय का आवाहन भी करते थे। इससे उनके व्यवह में कृत्रिमता आ जाती, और वह शत्रुओं को उनकी ओर से और भी सशं बना देती थी।

बादशाह ने एक अँग्रेज मुसाहब से पूछा—तुमको मालूम है, मैं तुम्हा कितनी खातिर करता हूँ ? मेरी सल्तनत में किसी की मजाल नहीं कि व किसी अँग्रेज को कड़ी निगाह से देख सके।

अँग्रेज मुसाहब ने सिर झुकाकर जवाब दिया—हम हुजूर की इस मेह बानी को कभी नहीं भूल सकते।

बादशाह—इमामहुसेन की कसम, अगर यहाँ कोई आदमी तुम्हें तकली दे, तो मैं उसे फौरन जिन्दा दीवार में चुनवा दूँ।

बादशाह की आदत थी कि वह बहुधा अँग्रेजी टोपी हाथ में लेकर उसे उँगली पर नचाने लगते थे। रोज नचाते-नचाते टोपी में उँगली का घर ह गया था। इस समय जो उन्होंने टोपी उठाकर उँगली पर रखी, तो टोपी में छेद हो गया। बादशाह का ध्यान अँग्रेजों की तरफ था। बख्तावरसिंह बाद शाह के मुँह से ऐसी बातें सुनकर कबाब हुए जाते थे। उक्त कथन में कितनी खुशामद, कितनी नीचता और अवध की प्रजा तथा राजों का कितना अपमान था! और लोग तो टोपी का छिद्र देखकर हँसने लगे, पर राजा बख़्तावरसिंह के मुँह से अनायास निकल गया—हुजूर, ताज में सूराख हो गया!

राजा साहब के शत्रुओं ने तुरन्त कानों पर उँगलियाँ रख लीं। बादशाह को भी ऐसा मालूम हुआ कि राजा ने मुझ पर व्यंग्य किया। उनके तेवर बदल गये। अँग्रेजों और अन्य सभासदों ने इस प्रकार काना-फूसी शुरू की, जैसे कोई महान् अनर्थ हो गया। राजा साहब के मुँह से अनर्गल शब्द अवश्य निकले थे। इसमें कोई सन्देह न था। सम्भव है, उन्होंने जान-बूझकर व्यंग्य न किया हो, उनके दुखी हृदय ने साधारण चेतावनी को यह तीव्र रूप दे दिया हो, पर बात बिगड़ जरूर गयी थी। अब उनके शत्रु उन्हें कुचलने के ऐसे सुन्दर अवसर को हाथ से क्यों जाने देते ?

राजा साहब ने सभा का यह रंग देखा, तो खून सर्द हो गया। समझ

गये, आज शत्रुओं के पंजे में फँस गया, और ऐसा बुरा फँसा कि भगवान् ही निकालें, तो निकल सकता हूँ।

बादशाह ने कोतवाल से लाल आँखें करके कहा—इस नमकहराम को कैद कर लो, और इसी वक्त इसका सिर उड़ा दो। इसे मालूम हो जाय कि बादशाहों से बेअदबी करने का क्या नतीजा होता है।

कोतवाल को सहसा 'जेनरल' पर हाथ बढ़ाने की हिम्मत न पड़ी। रोशनुद्दौला ने उससे इशारे से कहा—खड़े सोचते क्या हो, पकड़ लो, नहीं तो तुम भी इसी आग में जल जाओगे।

झट कोतवाल ने आगे बढ़कर बख्तावरसिंह को गिरफ्तार कर लिया। एक क्षण में मुश्कें कस दी गयीं। लोग उन्हें चारों ओर से घेरकर कत्ल करने ले चले।

बादशाह ने मुसाहबों से कहा—मैं भी वहीं चलता हूँ। जरा देखूँगा कि नमकहरामों की लाश क्योंकर तड़पती है।

कितनी घोर पशुता थी! यही प्राणी जरा देर पहले बादशाह का विश्वासपात्र था।

एकाएक बादशाह ने कहा—पहले इस नमकहराम की खिलअत उतार लो। मैं नहीं चाहता कि मेरी खिलअत की बेइज्जती हो।

किसकी मजाल थी, जो जरा भी जबान हिला सकता। सिपाहियों ने राजा साहब के वस्त्र उतारने शुरू किये। दुर्भाग्यवश उनकी एक जेब से पिस्तौल निकल आयी। उसकी दोनो नालियाँ भरी हुई थीं। पिस्तौल देखते ही बादशाह की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। बोले—कसम है हजरत इमामहुसेन की, अब इसकी जाँबख्शी नहीं करूँगा। मेरे साथ भरी हुई पिस्तौल की क्या जरूरत! जरूर इसकी नीयत में फितूर रहता था। अब मैं इसे कुत्तों से नुचवाऊँगा! (मुसाहबों की तरफ देखकर) देखी तुम लोगों ने इसकी नीयत! मैं अपनी आस्तीन में साँप पाले हुए था। आप लोगों के खयाल में इसके पास भरी हुई पिस्तौल का निकलना क्या माने रखता है?

अँगरेजों को केवल राजा साहब को नीचा दिखाना मंजूर था। वे उन्हें अपना मित्र बनाकर जितना काम निकाल सकते थे, उतना उनके मारे जाने से

नहीं। इसी से एक अँगरेज-मुसाहब ने कहा—मुझे तो इसमें कोई गैरमुनासि बात नहीं मालूम होती। जेनरल आपका बाडी-गार्ड (रक्षक) है। उसे हमेश हथियार-बन्द रहना चाहिए। खासकर जब आपकी खिदमत में हो। न मालूम किस वक्त इसकी जरूरत आ पड़े।

दूसरे अँगरेज मुसाहबों ने भी इस विचार की पुष्टि की। बादशाह के क्रोध की ज्वाला कुछ शान्त हुई। अगर ये ही बातें किसी हिन्दुस्तानी मुसाहब क जबान से निकली होतीं तो उसकी जान की खैरियत न थी। कदाचित् अँग रेजों को अपनी न्याय-परता का नमूना दिखाने ही के लिए उन्होंने यह प्रश्न किया था। बोले—कसम हजरत इमाम की, तुम सब-के-सब शेर के मुँह स उसका शिकार छीनना चाहते हो! पर मैं एक न मानूँगा, बुलाओ कप्तान साहब को। मैं उनसे यही सवाल करता हूँ। अगर उन्होंने भी तुम लोगों क खयाल की ताईद की, तो इसकी जान न लूँगा। और, उनकी राय इसके खिलाफ हुई, तो इस मक्कार को इसी वक्त जहन्नुम भेज दूँगा। मगर खबरदार, को उनकी तरफ किसी तरह का इशारा न करे; वरना मैं जरा भी रू-रियायत न करूँगा। सब-के-सब सिर झुकाये बैठे रहें।

कप्तान साहब थे तो राजा साहब के आउरदे, पर इन दिनों बादशाह क उन पर विशेष कृपा थी। वह उन सच्चे राज्य-भक्तों में से थे, जो अपने क राजा का नहीं, राज्य का सेवक समझते हैं। वह दरबार से अलग रहते थे बादशाह उनके कामों से बहुत सन्तुष्ट थे। एक आदमी तुरन्त कप्तान साह को बुला लाया। राजा साहब की जान उनकी मुट्ठी में थी। रोशनुद्दौला क छोड़कर शायद एक व्यक्ति भी ऐसा न था, जिसका हृदय आशा और निराश से धड़क न रहा हो। सब मन में भगवान् से यही प्रार्थना कर रहे थे कि कप्तान साहब किसी तरह से इस समस्या को समझ जायँ। कप्तान साहब आये; उड़ती हु दृष्टि से सभा की ओर देखा। सभी की आँखें नीचे झुकी हुई थीं। वह कुछ अनिश्चित भाव से सिर झुकाकर खड़े हो गये।

बादशाह ने पूछा—मेरे मुसाहबों को अपनी जेब में भरी हुई पिस्तौल रखन मुनासिब है, या नहीं?

दरबारियों की नीरवता, उनके आशंकित चेहरे और उनकी चिन्ता-यु

अधीरता देखकर कप्तान साहब को वर्तमान समस्या की कुछ टोह मिल गयी। वह निर्भीक भाव से बोले—हुजूर, मेरे खयाल में तो यह उनका फर्ज है। बादशाह के दोस्त-दुश्मन सभी होते हैं; अगर मुसाहब लोग उनकी रक्षा का भार न लेंगे, तो कौन लेगा? उन्हें सिर्फ पिस्तौल ही नहीं, और भी छिपे हुए हथियारों से लैस रहना चाहिए। न-जाने कब हथियारों की जरूरत आ पड़े, तब वे ऐन वक्त पर कहाँ दौड़ते फिरेंगे!

राजा साहब के जीवन के दिन बाकी थे। बादशाह ने निराश होकर कहा—रोशन, इसे कत्ल मत करना, काल-कोठरी में कैद कर दो। मुझसे पूछे बगैर इसे दाना-पानी कुछ न दिया जाय। जाकर इसके घर का सारा माल-जब्त कर लो, और सारे खानदान को जेल में बन्द करा दो, इसके मकान की दीवारें जमींदोज करा देना। घर में एक फूटी हाँड़ी भी न रहने पाये।

इससे तो कहीं अच्छा यही था कि राजा साहब ही की जान जाती। खानदान की बेइज्जती तो न होती, महिलाओं का अपमान तो न होता, दरिद्रता की चोटें तो न सहनी पड़तीं! विकार को निकलने का मार्ग नहीं मिलता, तो वह सारे शरीर में फैल जाता है। राजा के प्राण तो बचे, पर सारे खानदान को विपत्ति में डालकर!

रोशनुद्दौला को मुँह-माँगी मुराद मिली। उसकी ईर्ष्या कभी इतनी सन्तुष्ट न हुई थी। वह मग्न था कि आज वह काँटा निकल गया, जो बरसों से हृदय में चुभा हुआ था। आज हिन्दू राज्य का अन्त हुआ। अब मेरा सिक्का चलेगा। अब मैं समस्त राज्य का विधाता होऊँगा। सन्ध्या से पहले ही राजा साहब की स्थावर और जंगम सम्पत्ति कुर्क हो गयी। वृद्ध माता-पिता, सुकोमल रमणियाँ, छोटे-छोटे बालक, सब-के-सब जेल में कैद कर दिये गये। कितनी करुण दशा थी! वे महिलाएँ, जिन पर कभी देवताओं की भी निगाह न पड़ी थी, खुले मुँह, नंगे पैर, पाँव घसीटतीं, शहर की भरी हुई सड़कों और गलियों से होती हुई, सिर झुकाये, शोकचित्रों की भाँति, जेल की तरफ चली जाती थीं। सशस्त्र सिपाहियों का एक बड़ा दल साथ था। जिस पुरुष के एक इशारे पर कई घंटे पहले सारे शहर में हलचल मच जाती, उसी के खानदान की यह दुर्दशा!

(२)

राजा बख्तावरसिंह को बन्दी-गृह में रहते हुए एक मास बीत गया। व
उन्हें सभी प्रकार के कष्ट दिये जाते थे। यहाँ तक कि भोजन भी यथासमय
मिलता था। उनके परिवार को भी असह्य यातनाएँ दी जाती थीं। लेकिन रा
साहब को बन्दी-गृह में एक प्रकार की शान्ति का अनुभव होता था। वहाँ प्र
क्षण यह खटका तो न रहता था कि बादशाह मेरी किसी बात से नाराज न
जायँ; मुसाहब लोग कहीं मेरी शिकायत तो नहीं कर रहे हैं। शारीरिक क
का सहना उतना कठिन नहीं; जितना मानसिक कष्टों का। यहाँ सब तकल
थीं, पर सिर पर तलवार तो नहीं लटक रही थी। उन्होंने मन में निश्चय कि
कि अब चाहे बादशाह मुझे मुक्त भी कर दें, मगर मैं राज-काज से अलग
रहूँगा। इस राज्य का सूर्य अस्त होनेवाला है; कोई मानवी शक्ति उसे विना
निशा में लीन होने से नहीं रोक सकती। ये उसी पतन के लक्षण हैं; नहीं
क्या मेरी राज्य-भक्ति का यही पुरस्कार मिलना चाहिए था! मैंने अब त
कितनी कठिनाइयों से राज्य की रक्षा की है, यह भगवान् ही जानते हैं। ए
तो बादशाह की निरंकुशता, दूसरी ओर बलवान् और युक्ति-सम्पन्न शत्रु
की कूटनीति—इस शिला और भँवर के बीच में राज्य की नौका चलाते रह
कितना कष्ट-साध्य था! शायद ही ऐसा कोई दिन गुजरा होगा, जिस दि
मेरा चित्त प्राण-शंका से आन्दोलित न हुआ हो। इस सेवा, भक्ति और तल्ल
नता का यह पुरस्कार है। मेरे मुख से व्यंग्य-शब्द अवश्य निकले, उनके लि
इतना कठोर दण्ड! इससे तो यह कहीं अच्छा होता कि मैं कत्ल कर दि
गया होता। अपनी आँखों से अपने परिवार की यह दुर्गति तो न देखता
सुनता हूँ, पिताजी को सोने के लिए चटाई नहीं दी गयी। न जाने स्त्रियों
कैसे-कैसे अत्याचार हो रहे होंगे। लेकिन, इतना जानता हूँ कि प्यारी सुख
अन्त तक अपने सतीत्व की रक्षा करेगी, अन्यथा प्राण त्याग देगी। मुझे इ
बेड़ियों की परवा नहीं। पर सुनता हूँ, लड़कों के पैरों में भी बेड़ियाँ डा
गयी हैं। यह सब इसी कुटिल रोशनुद्दौला की शरारत है। जिसका जी चा
इस समय सता ले, कुचल ले; मुझे किसी से कोई शिकायत नहीं। भगव
से यही प्रार्थना है कि अब संसार से उठा ले। मुझे अपने जीवन में जो कु

करना था, कर चुका, और उसका खूब फल पा चुका। मेरे-जैसे आदमी के लिए संसार में स्थान नहीं है।

राजा साहब इन्हीं विचारों में डूबे थे। सहसा उन्हें अपनी काल-कोठरी की ओर किसी के आने की आहट मिली। रात बहुत जा चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा छाया था, और उसी अंधकारमय सन्नाटे में किसी के पैरों की चाप स्पष्ट सुनायी देती थी। कोई बहुत पाँव दबा-दबाकर चला आ रहा था। राजा साहब का कलेजा धक्-धक् करने लगा। वह उठकर खड़े हो गये। हम निरस्त्र और प्रतिकार के लिए असमर्थ होने पर भी बैठे-बैठे वारों का निशाना बनना नहीं चाहते। खड़े हो जाना आत्म-रक्षा का अन्तिम प्रयत्न है। कोठरी में ऐसी कोई वस्तु न थी, जिससे वह अपनी रक्षा कर सकते। समझ गये, अन्तिम समय आ गया। शत्रुओं ने इस तरह मेरे प्राण लेने की ठानी है। अच्छा है, जीवन के साथ इस विपत्ति का भी अन्त हो जायगा।

एक क्षण में उनके सम्मुख एक आदमी आकर खड़ा हो गया। राजा साहब ने पूछा—कौन है?

उत्तर मिला—मैं हूँ, आपका सेवक।

राजा—ओ हो, तुम हो कप्तान! मैं शंका में पड़ा हुआ था कि कहीं शत्रुओं ने मेरा वध करने के लिए कोई दूत न भेजा हो।

कप्तान—शत्रुओं ने कुछ और ही ठानी है। आज बादशाह सलामत की जान बचती नहीं नजर आती।

राजा—अरे! यह क्योंकर?

कप्तान—जब से आपको यहाँ नजरबन्द किया गया है, सारे राज्य में हाहाकार मचा हुआ है। स्वार्थी कर्मचारियों ने लूट मचा रखी है। अँगरेजों की खुदाई फिर रही है। जो जी में आता है, करते हैं; किसी की मजाल नहीं के चूँ कर सके। इस एक महीने में शहर के सैकड़ों बड़े-बड़े रईस मिट गये। रोशनुद्दौला की बादशाही है। बाजारों का भाव चढ़ता जाता है। बाहर से व्यापारी लोग डर के मारे कोई जिंस ही नहीं लाते। दूकानदारों से मनमानी रकमें महसूल के नाम पर वसूल की जा रही हैं। गल्ले का भाव इतना चढ़ गया है कि कितने ही घरों में चूल्हा जलने की नौबत नहीं आती। सिपाहियों

को अभी तक तनख्वाह नहीं मिली। वे जाकर दूकानदारों को लूटते हैं। राज्य में बदअमली हो रही है। मैंने कई बार यह कैफियत बादशाह सल के कानों तक पहुँचाने की कोशिश की; मगर वह यह तो कह देते हैं कि इसकी तहक़ीक़ात करूँगा, और फिर बेखबर हो जाते हैं। आज शहर के से दूकानदार फरियाद लेकर आये थे कि हमारे हाल पर निगाह न की तो हम शहर छोड़कर और कहीं चले जायँगे। क्रिस्तानों ने उन्हें सख्त धमकाया, लेकिन उन्होंने जब तक अपनी सारी मुसीबत न बयान कर ली, से न हटे। आखिर जब बादशाह सलामत ने उन्हें दिलासा दिया, तब गये।

राजा—बादशाह पर इतना असर हुआ, मुझे तो यही ताजुब है।

कप्तान—असर-वसर कुछ नहीं हुआ; यह भी उनकी एक दिल्लगी शाम को खास मुसाहबों को बुलाकर हुक्म दिया है कि आज मैं भेष बदल शहर का गश्त करूँगा; तुम लोग भी भेष बदले हुए मेरे साथ रहना। मैं देख चाहता हूँ कि रियाया क्यों इतनी घबरायी हुई है। सब लोग मुझसे दूर किसी को न मालूम हो कि मैं कौन हूँ। रोशनुद्दौला और पाँचों अँग मुसाहब साथ रहेंगे।

राजा—तुम्हें क्योंकर यह बात मालूम हो गयी?

कप्तान—मैंने उसी अँग्रेज हज्जाम को मिला रखा है। दरबार में जो होता है, उसका पता मुझे मिल जाता है। उसी की सिफारिश से आ खिदमत में हाजिर होने का मौका मिला। घड़ियाल में १० बजते हैं, ग्य बजे चलने की तैयारी है। बारह बजते-बजते लखनऊ का तख्त खाल जायगा।

राजा—(घबराकर) क्या इन सब ने उन्हें कत्ल करने की साजिश रखी है?

कप्तान—जी नहीं; कत्ल करने से उनकी मंशा पूरी न होगी। बाद को बाजार की सैर कराते हुए गोमती की तरफ ले जायँगे। वहाँ अँगरेज हियों का एक दस्ता तैयार रहेगा। वह बादशाह को फौरन् एक गाड़ी बिठाकर रेजिडेंसी में ले जायगा। वहाँ रेजिडेंट साहब बादशाह सलामत

सल्तनत से इस्तीफा देने पर मजबूर करेंगे। उसी वक्त उनसे इस्तीफा लिखा लिया जायगा, और इसके बाद रातो-रात उन्हें कलकत्ते भेज दिया जायगा।

राजा—बड़ा गजब हो गया। अब तो वक्त बहुत कम है; बादशाह सलामत निकल पड़े होंगे।

कप्तान—गजब क्या हो गया। इनकी जात से किसे आराम था ? दूसरी हुकूमत चाहे कितनी ही खराब हो, इससे तो अच्छी ही होगी।

राजा—अँगरेजों की हुकूमत होगी।

कप्तान—अँगरेज इनसे कहीं बेहतर इन्तज़ाम करेंगे।

राजा—(करुण स्वर से) कप्तान! ईश्वर के लिए ऐसी बातें न करो। तुमने मुझसे जरा देर पहले यह कैफियत क्यों न बयान की ?

कप्तान—(आश्चर्य से) आपके साथ तो बादशाह ने कोई अच्छा सलूक नहीं किया!

राजा—मेरे साथ कितना ही बुरा सलूक किया हो, लेकिन एक राज्य की कीमत एक आदमी या एक खानदान को जान से कहीं ज्यादा होती है। तुम मेरे पैरों की बेड़ियाँ खुलवा संकते हो ?

कप्तान—सारे अवध-राज्य में एक भी ऐसा आदमो न निकलेगा, जो बादशाह को सच्चे दिल से दुआ देता हो। दुनिया उनके जुल्म से तंग आ गयी है।

राजा—मैं अपनों के जुल्म को गैरों की बन्दगी से कहीं बेहतर खयाल करता हूँ। बादशाह की यह हालत गैरों ही के भरोसे पर हुई है। वह इसी लिए किसी की परवा नहीं करते कि उन्हें अँगरेजों की मदद का यकीन है। मैं इन फिरंगियों की चालों को गौर से देखता आया हूँ। बादशाह के मिजाज को उन्हीं ने बिगाड़ा है। उनकी मंशा यही थी, जो हुआ। रियाया के दिल से बादशाह की इज्जत और मुहब्बत उठ गयी। आज सारा मुल्क बगावत करने पर आमादा है। ये लोग इसी मौके का इन्तजार कर रहे थे। वह जानते हैं कि बादशाह की माजूली (गद्दी से हटाये जाने) पर एक आदमी भी आँसू न बहायेगा। लेकिन मैं जताये देता हूँ कि अगर इस वक्त तुमने बादशाह को दुश्मनों के हाथों से न बचाया, तो तुम हमेशा के लिए अपने ही वतन में

गुलामी की जंजीरों में बँध जाओगे। किसी गैर कौम के चाकर बनकर अ
आफियत (शान्ति) भी मिली, तो आफियत न होगी; वह मौत होगी। गैरों
बेरहम पैरों के नीचे पड़कर तुम हाथ भी न हिला सकोगे, और यह उम्मीद
कभी हमारे मुल्क में आईनी सल्तनत (वैध शासन) कायम होगी, हसरत
दाग बनकर रह जायगी। नहीं, मुझमें अभी मुल्क की मुहब्बत बाक़ी है।
अभी इतना बेजान नहीं हुआ हूँ। मैं इतनी आसानी से सल्तनत को हाथ
न जाने दूँगा, अपने को इतने सस्ते दामों गैरों के हाथों न बेचूँगा, मुल्क
इज्जत को न मिटने दूँगा, चाहे इस कोशिश में मेरी जान ही क्यों न जाय
कुछ और नहीं कर सकता, अपनी जान तो दे ही सकता हूँ। मेरी बेड़ि
खोल दो।

कप्तान—मैं आपका खादिम हूँ, मगर मुझे यह मजाज़ नहीं।

राजा—(जोश में आकर) जालिम, यह इन बातों का वक्त नहीं है। ए
एक पल हमें तबाही की तरफ लिये जा रहा है। खोल दे ये बेड़ियाँ। जि
घर में आग लगती है, उसके आदमी खुदा को नहीं याद करते, कुएँ
तरफ दौड़ते हैं।

कप्तान—आप मेरे मुहसिन हैं। आपके हुक्म से मुँह नहीं मोड़ सकता
लेकिन....

राजा—जल्दी करो, जल्दी करो। अपनी तलवार मुझे दे दो। अब इ
तकल्लुफ की बातों का मौका नहीं है।

कप्तान साहब निरुत्तर हो गये। सजीव उत्साह में बड़ी संक्रामक श
होती है। यद्यपि राजा साहब के नीति-पूर्ण वार्त्तालाप ने उन्हें माकूल न
किया, तथापि वह अनिवार्य रूप से उनकी बेड़ियाँ खोलने पर तत्पर हो गये
उसी वक्त जेल के दारोगा को बुलाकर कहा—साहब ने हुक्म दिया है
राजा साहब को फौरन् आजाद कर दिया जाय। इसमें एक पल की भी ताखी
(विलम्ब) हुई, तो तुम्हारे हक में अच्छा न होगा।

दारोगा को मालूम था कि कप्तान साहब और मि०....में गाढ़ी मैत्री है
अगर साहब नाराज हो जायँगे, तो रोशनुद्दौला की कोई सिफारिश मेरी र
न कर सकेगी। उसने राजा साहब की बेड़ियाँ खोल दीं।

राजा साहब जब तलवार हाथ में लेकर जेल से निकले, तो उनका हृदय राज्य-भक्ति की तरंगों से आन्दोलित हो रहा था। उसी वक्त घड़ियाल ने ग्यारह बजाये।

(३)

आधी रात का समय था। मगर लखनऊ की तंग गलियों में खूब चहल-पहल थी। ऐसा मालूम होता था कि अभी सिर्फ नौ बजे होंगे। सराफे में सबसे ज्यादा रौनक थी। मगर आश्चर्य यह था कि किसी दूकान पर जवाहरात या गहने नहीं दिखायी देते थे। केवल आदमियों के आने-जाने की भीड़ थी। जिसे देखो, पाँचों शस्त्रों से सुसज्जित, मूछें खड़ी किये, ऐंठता हुआ चला जाता है। बाजार के मामूली दूकानदार भी निःशस्त्र न थे।

सहसा एक आदमी, भारी साफा बाँधे, पैर की घुटनियों तक नीची कबा पहने, कमर में पटका बाँधे, आकर एक सराफ की दूकान पर खड़ा हो गया। जान पड़ता था, कोई ईरानी सौदागर है। उन दिनों ईरान के व्यापारी लखनऊ में बहुत आते-जाते थे। इस समय ऐसे किसी आदमी का आ जाना असाधारण बात न थी।

सराफ़ का नाम माधोदास था। बोला—कहिए मीर साहब, कुछ दिखाऊँ?

सौदागर—सोने का क्या निर्ख है?

माधो—(सौदागर के कान के पास मुँह ले जाकर) निर्ख की कुछ न पूछिए। आज करीब एक महीने से बाजार का निर्ख बिगड़ा हुआ है। माल बाजार में आता ही नहीं। लोग दबाये हुए हैं; बाजारों में खौफ के मारे नहीं लाते। अगर आपको ज्यादा माल दरकार हो, तो मेरे साथ गरीबखाने तक तकलीफ कीजिए। जैसा माल चाहिए, लीजिए। निर्ख मुनासिब ही होगा। इसका इतमीनान रखिए।

सौदागर—आजकल बाजार का निर्ख क्यों बिगड़ा हुआ है?

माधो—क्या आप हाल ही में वारिद हुए हैं?

सौदागर—हाँ, मैं आज ही आया हूँ। कहीं पहले की-सी रौनक नहीं नजर आती। कपड़े का बाजार भी सुस्त है। ढाके का एक कीमती थान बहुत तलाश करने पर भी नहीं मिला।

माधो—इसके बड़े किस्से हैं; कुछ ऐसा ही मुश्रामला है।

सौदागर—डाकुओं का जोर तो नहीं है ? पहले तो यहाँ इस किस्म क वारदातें नहीं होती थीं।

माधोदास—अब वह कैफियत नहीं है। दिन-दहाड़े डाके पड़ते हैं। उ कोतवाल क्या, बादशाह-सलामत भी गिरफ्तार नहीं कर सकते। अब अ क्या कहूँ दीवार के भी कान होते हैं। कहीं कोई सुन ले, तो लेने के देने प जायँ।

सौदागर—सेठजी, आप तो पहेलियाँ बुझाने लगे। मैं परदेसी आद हूँ; यहाँ किससे कहने जाऊँगा। आखिर बात क्या है ? बाजार क्यों इत बिगड़ा हुआ है ? नाज की मण्डी की तरफ गया, तो वहाँ भी सन्नाटा छा हुआ था। मोटी जिन्स भी दूने दामों पर बिक रही थी।

माधो—(इधर-उधर चौकन्नी आँखों से देखकर) एक महीना हुअ रोशनुद्दौला के हाथ में स्याह-सफेद करने का अख्तियार आ गया है। यह स उन्हीं की बद-इन्तजामी का फल है। उनके पहले राजा बख्तावरसिंह हमा मालिक थे। उनके वक्त में किसी की मजाल न थी कि व्यापारियों को टे आँख से देख सकता। उनका रोब सभी पर छाया हुआ था। फिरंगियों प उनकी कड़ी निगाह रहती। हुक्म था कि कोई फिरंगी बाजार में आये, त थाने का सिपाही उसकी देख-भाल करता रहे। इसी वजह से फिरंगी उन जला करते थे। आखिर सब ने रोशनुद्दौला को मिलाकर बख्तावरसिंह को बे कसूर कैद करा दिया। बस, तब से बाज़ार में लूट मची हुई है। सरका अमले अलग लूटते हैं; फिरंगी अलग नोचते-खसोटते हैं। जो चीज चाह हैं, उठा ले जाते हैं। दाम माँगो, तो धमकियाँ देते हैं। शाही दरबार में फ याद करो, तो उल्टे सजा होती है। अभी हाल ही में हम सब मिलकर बाद शाह-सलामत की खिदमत में हाजिर हुए थे। पहले तो वह बहुत ही नारा हुए, पर आखिर रहम आ गया। बादशाहों का मिजाज ही तो है। हमा सब शिकायतें सुनीं, और तसकीन दी कि तहकीकात करेंगे। मगर अभी त तो वही लूट-खसोट जारी है।

इतने में तीन आदमी राजपूती ढंग की मिर्जई पहने, आकर दूकान के

सामने खड़े हो गये। माधोदास उनका रङ्ग-ढङ्ग देखकर चौंका। शाही फौज के सिपाही बहुधा इसी सज-धज से निकलते थे। तीनों आदमी भी सौदागर को देखकर ठिठके; पर उसने उन्हें कुछ ऐसी निगाहों से देखा कि तीनों आगे चले गये। तब सौदागर ने माधोदास से पूछा—इन्हें देखकर तुम क्यों चौंके?

माधोदास ने कहा—ये फौज के सिपाही हैं। जब से राजा बख्तावरसिंह नजरबन्द हुए हैं, इन पर किसी की दाब ही नहीं रही। खुले साँड़ की तरह बाजारों में चक्कर लगाया करते हैं। सरकार से तलब मिलने का कुछ ठीक तो है नहीं। बस, नोच-खसोट करके गुजर करते हैं। हाँ, तो फिर अगर मरजी हो, तो मेरे साथ घर तक चलिए, आपको माल दिखाऊँ।

सौदागर—नहीं भई, इस वक्त नहीं; सुबह आऊँगा। देर हो गयी है, और मुझे भी यहाँ की हालत देखकर खौफ मालूम होने लगा है।

यह कहकर सौदागर उसी तरफ चला गया, जिधर वे तीनों राजपूत गये थे। थोड़ी देर में और तीन आदमी सराफे में आये। एक तो पंडितों की तरह नीची अचकन पहने हुए था; सिर पर गोल पगिया थी, और कन्धे पर जरी के काम का शाल। उसके दोनो साथी खिदमतगारों के-से कपड़े पहने हुए थे, तीनो इस तरह इधर-उधर ताक रहे थे, मानो किसी को खोज रहे हों। यों ताकते हुए तीनो आगे चले गये।

ईरानी सौदागर तीव्र नेत्रों से इधर-उधर देखता हुआ एक मील चला गया। वहाँ एक छोटा-सा बाग था। एक पुरानी मस्जिद भी थी। सौदागर वहाँ ठहर गया। एकाएक तीनों राजपूत मस्जिद से बाहर निकल आये, और बोले—हुजूर तो बहुत देर तक सराफ की दूकान पर बैठे रहे। क्या बातें हुईं।

सौदागर ने अभी कुछ जवाब न दिया था कि पीछे से पंडित और उनके दोनो खिदमतगार भी आ पहुँचे। सौदागर ने पंडित को देखते ही भर्त्सना-पूर्ण शब्दों में कहा—मियाँ रोशनुद्दौला, मुझे इस वक्त तुम्हारे ऊपर इतना गुस्सा आ रहा है कि तुम्हें कुत्तों से नुचवा दूँ। नमकहराम कहीं का। दगा-बाज!! तूने मेरी सल्तनत को तबाह कर दिया! सारा शहर तेरे जुल्म का रोना रो रहा है! मुझे आज मालूम हुआ कि तूने क्यों राजा बख्तावरसिंह को कैद कराया। मेरी अक्ल पर न-जाने क्यों पत्थर पड़ गये थे कि मैं तेरी चिकनी-

चुगड़ी बातों में आ गया। इस नमकहरामी की तुझे वह सजा दूँगा कि देखने-वालों को भी इबरत (शिक्षा) हो।

रोशनुद्दौला ने निर्भीकता से उत्तर दिया—आप मेरे बादशाह हैं, इसलिए आपका अदब करता हूँ, वर्ना इसी वक्त इस बद-जबानी का मजा चखा देता। खुद आप तो महल में हसीनों के साथ ऐश किया करते हैं, दूसरों को क्या गरज पड़ी है कि सल्तनत की फिक्र से दुबले हों। खूब, हम अपना खून जलायें, और आप जशन मनायें। ऐसे अहमक कहीं और रहते होंगे।

बादशाह (क्रोध से काँपते हुए)—मि०....मैं तुम्हें हुक्म देता हूँ कि इस नमकहराम को अभी गोली मार दो। मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता; और इसी वक्त जाकर इसकी सारी जायदाद जब्त कर लो। इसके खानदान का एक बच्चा भी जिन्दा न रहने पाये।

रोशनुद्दौला—मि०....मैं तुमको हुक्म देता हूँ कि इस मुल्क और कौम के दुश्मन, रैयत-कातिल और बदकार आदमी को फौरन् गिरफ्तार कर लो। यह इस काबिल नहीं कि ताज और तख्त का मालिक बने।

इतना सुनते ही पाँचों अँग्रेज मुसाहबों ने, जो भेष बदले हुए साथ थे, बादशाह के दोनों हाथ पकड़ लिये, और खींचते हुए गोमती की तरफ ले चले। बादशाह की आँखें खुल गयीं। समझ गये कि पहले ही से यह षड्यंत्र रचा गया था। इधर-उधर देखा, कोई आदमी नहीं। शोर मचाना व्यर्थं था। बादशाही का नशा उतर गया। दुरवस्था वह परीक्षाग्नि है जो मुलम्मे और रोगन को उतारकर मनुष्य का यथार्थ रूप दिखा देती है। ऐसे ही अवसरों पर विदित होता है कि मानव-हृदय पर कृत्रिम भावों का कितना गहरा रंग चढ़ा होता है। एक क्षण में बादशाह की उद्दण्डता और घमण्ड ने दीनता और विनयशीलता का आश्रय लिया। बोले—मैंने तो आप लोगों की मरजी के ख़िलाफ़ ऐसा कोई काम नहीं किया, जिसकी यह सज़ा मिले। मैंने आप लोगों को हमेशा अपना दोस्त समझा है।

रोशनुद्दौला—तो हम लोग जो कुछ कर रहे हैं, वह भी आपके फ़ायदे के लिए ही कर रहे हैं। हम आपके सिर से सल्तनत का बोझ उतारकर आपको आज़ाद कर देंगे, तब आपके ऐश में खलल न पड़ेगा। आप बेफिक्र होकर

हसीनों के साथ ज़िन्दगी के मजे लूटिएगा।

बादशाह—तो क्या आप लोग मुझे तख्त से उतारना चाहते हैं?

रोशनुद्दौला—नहीं, आपको बादशाही की जिम्मेदारियों से आजाद कर देना चाहते हैं।

बादशाह—हजरत इमाम की कसम, मैं यह जिल्लत न बर्दाश्त करूँगा। मैं अपने बुजुर्गों का नाम न डुबाऊँगा।

रोशनुद्दौला—आपके बुजुर्गों के नाम की फिक्र हमें आपसे ज्यादा है। आपकी ऐशपरस्ती बुजुर्गों का नाम रोशन नहीं कर रही है।

बादशाह—(दीनता से) मैं वादा करता हूँ कि आइन्दा से मैं आप लोगों को शिकायत का कोई मौका न दूँगा।

रोशनुद्दौला—नशेबाजों के वादों पर कोई दीवाना ही यकीन कर सकता है।

बादशाह—तुम मुझे तख्त से जबरदस्ती नहीं उतार सकते।

रोशनुद्दौला—इन धमकियों की जरूरत नहीं। चुपचाप चले चलिए; आगे आपको सेज-गाड़ी मिल जायगी। हम आपको इज्जत के साथ रुखसत करेंगे।

बादशाह—आप जानते हैं, रियाया पर इसका क्या असर होगा?

रोशनुद्दौला—खूब जानता हूँ! आपकी हिमायत में एक उँगली भी न उठेगी। कल सारी सल्तनत में घी के चिराग जलेंगे।

इतनी देर में सब लोग उस स्थान पर आ पहुँचे, जहाँ बादशाह को ले जाने के लिए सवारी तैयार खड़ी थी। लगभग पचीस सशस्त्र गोरे सिपाही भी खड़े थे। बादशाह सेज-गाड़ी को देखकर मचल गये। उनके रुधिर की गति तीव्र हो गयी; भोग और विलास के नीचे दबी हुई मर्यादा सजग हो गयी। उन्होंने जोर से झटका देकर अपना हाथ छुड़ा लिया, और नैराश्य-पूर्ण दुस्साहस के साथ, परिणाम-भय को त्यागकर उच्च स्वर से बोले—ऐ लखनऊ के बसनेवालो! तुम्हारा बादशाह यहाँ दुश्मनों के हाथों कत्ल किया जा रहा है। उसे इनके हाथ से बचाओ, दौड़ो, वर्ना पछताओगे!

यह आर्त पुकार आकाश की नीरवता को चीरती हुई गोमती की लहरों में विलीन नहीं हुई; बल्कि लखनऊवालों के हृदयों में जा पहुँची। राजा बख्ता-

वरसिंह बन्दी-गृह से निकलकर नगर-निवासियों को उत्तेजित करते, और प्रतिक्षण रक्षाकारियों के दल को बढ़ाते, बड़े वेग से दौड़े चले आ रहे थे। एक पल का विलम्ब भी षड्यंत्रकारियों के घातक विरोध को सफल कर सकता था। देखते-देखते उनके साथ दो-तीन हजार सशस्त्र मनुष्यों का दल हो गया था। यह सामूहिक शक्ति बादशाह और लखनऊ-राज्य का उद्धार कर सकती थी। समय सब कुछ था। बादशाह गोरी सेना के पंजे में फँस गये, तो फिर समस्त लखनऊ भी उन्हें मुक्त न करा सकता था। राजा साहब ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते थे, नैराश्य से दिल बैठा जाता था। विफल-मनोरथ होने की शंका से उत्साह भंग हुआ जाता था। अब तक कहीं उन लोगों का पता नहीं! अवश्य हम देर में पहुँचे। विद्रोहियों ने अपना काम पूरा कर लिया। लखनऊ राज्य की स्वाधीनता सदा के लिए विसर्जित हो गयी!

ये लोग निराश होकर लौटना ही चाहते थे कि अचानक बादशाह का आर्त नाद सुनायी दिया। कई हजार कण्ठों से आकाशभेदी ध्वनि निकली—हुजूर को खुदा सलामत रखे, हम फिदा होने को आ पहुँचे!

समस्त दल एक ही प्रबल इच्छा से प्रेरित होकर, वेगवती जलधारा की भाँति, घटना-स्थल की ओर दौड़ा। अशक्त लोग भी सशक्त हो गये। पिछड़े हुए लोग आगे निकल जाना चाहते थे। आगे के लोग चाहते थे कि उड़कर जा पहुँचें।

इन आदमियों की आहट पाते ही गोरों ने बन्दूकें भरीं, और पचीस बन्दूकों की बाढ़ सर हो गयी। रक्षाकारियों में से कितने ही लोग गिर पड़े; मगर कदम पीछे न हटे। वीर-मद ने और भी मतवाला कर दिया। एक क्षण में दूसरी बाढ़ आयी; कुछ लोग फिर वीर-गति को प्राप्त हुए। लेकिन कदम आगे ही बढ़ते गये। तीसरी बाढ़ छूटनेवाली ही थी कि लोगों ने विद्रोहियों को जा लिया। गोरे भागे।

लोग बादशाह के पास पहुँचे। अद्भुत दृश्य था। बादशाह रोशनुद्दौला की छाती पर सवार थे। जब गोरे जान लेकर भागे, तो बादशाह ने इस नर-पिशाच को पकड़ लिया था, और उसे बल-पूर्वक भूमि पर गिराकर उसकी छाती पर बैठ गये थे। अगर उनके हाथों में हथियार होता, तो इस वक्त रोशनु-

द्दौला की लाश फड़कती हुई दिखायी देती।

राजा बख्तावरसिंह आगे बढ़कर बादशाह को आदाब बजा लाये। लोगों की जय-ध्वनि से आकाश हिल उठा। कोई बादशाह के पैरों को चूमता, कोई उन्हें आशीर्वाद देता। रोशनुद्दौला का शरीर तो लात और घूँसों का लक्ष्य बना हुआ था। कुछ बिगड़ेदिल ऐसे भी थे, जो उसके मुँह पर थूकते भी संकोच न करते थे।

(४)

प्रातःकाल था। लखनऊ में आनन्दोत्सव मनाया जा रहा था। बादशाही महल के सामने लाखों आदमी जमा थे। सब लोग बादशाह को यथायोग्य नजर देने आये थे। जगह-जगह गरीबों को भोजन कराया जा रहा था। शाही नौबतखाने में नौबत बज रही थी।

दरबार सजा। बादशाह हीरे-जवाहरात से जगमगाते, रत्नजटित आभूषणों से सजे हुए सिंहासन पर आ विराजे। रईसों और अमीरों ने नजरें गुजारीं! शायरों ने कसीदे पढ़े। एकाएक बादशाह ने पूछा—राजा बख्तारवरसिंह कहाँ हैं? कप्तान ने जवाब दिया—कैदखाने में।

बादशाह ने उसी वक्त कई कर्मचारियों को भेजा कि राजा साहब को जेलखाने से इज्जत के साथ लावें। जब थोड़ी देर के बाद राजा ने आकर बादशाह को सलाम किया, वह तख्त से उतरकर उनसे गले मिले, और उन्हें अपनी दाहिनी ओर सिंहासन पर बैठाया। फिर दरबार में खड़े होकर उनकी सुकीर्ति और राज्य-भक्ति की प्रशंसा करने के उपरान्त अपने ही हाथों से उन्हें खिलअत पहनायी। राजा साहब के कुटुम्ब के प्राणी भी आदर और सम्मान के साथ विदा किये गये।

अन्त को जब दोपहर के समय दरबार बर्खास्त होने लगा, तो बादशाह ने राजा साहब से कहा—आपने मुझ पर और मेरी सल्तनत पर जो एहसान किया है, उसका सिला (पुरस्कार) देना मेरे इमकान से बाहर है। मेरी आपसे यही इल्तिजा (अनुरोध) है कि आप वजारत का कलमदान हाथ में लीजिए, और सल्तनत का, जिस तरह मुनासिब समझिए, इन्तजाम कीजिए। मैं आपके किसी काम में दखल न दूँगा। मुझे एक गोशे में पड़ा रहने दीजिए। नमकहराम

रोशन को भी मैं आपके सिपुर्द किये देता हूँ। आप जो सजा चाहें दें। मैं इसे कब का जहन्नुम भेज चुका होता; पर यह समझकर कि यह आपका शिकार है, इसे छोड़े हुए हूँ।

लेकिन बख्तावरसिंह बादशाह के उच्छृंखल स्वभाव से भली-भाँति परिचित थे। वह जानते थे, बादशाह की ये सदिच्छाएँ थोड़े ही दिनों की मेहमान हैं। मानव-चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन बहुत कम हुआ करते हैं। दो-चार महीने में दरबार का फिर वही रंग हो जायगा। इसलिए मेरा तटस्थ रहना ही अच्छा है। राज्य के प्रति मेरा जो कुछ कर्त्तव्य था, वह मैंने पूरा कर दिया। मैं दरबार से अलग रहकर निष्काम भाव से जितनी सेवा कर सकता हूँ, उतनी दरबार में रहकर कदापि नहीं कर सकता। हितैषी मित्र का जितना सम्मान होता है, स्वामि-भक्त सेवक का उतना नहीं हो सकता।

वह विनीत भाव से बोले—हुजूर, मुझे इस ओहदे से मुआफ रखें। मैं यों ही आपका खादिम हूँ। इस मनसब पर किसी लायक आदमी को मामूर फरमाइए (नियुक्त कीजिए)। मैं अक्खड़ राजपूत हूँ। मुल्की इन्तजाम करना क्या जानूँ।

बादशाह—मुझे तो आपसे ज्यादा लायक और वफादार आदमी नजर नहीं आता।

मगर राजा साहब उनकी बातों में न आये। आखिर मजबूर होकर बादशाह ने ज्यादा न दबाया। दम-भर बाद जब रोशनुद्दौला को सजा देने का प्रश्न उठा, तब दोनो आदमियों में इतना मतभेद हुआ कि वाद-विवाद की नौबत आ गयी। बादशाह आग्रह करते थे कि इसे कुत्तों से नुचवा दिया जाय। राजा साहब इस बात पर अड़े हुए थे कि इसे जान से न मारा जाय, केवल नजरबन्द कर दिया जाय। अन्त में बादशाह ने क्रुद्ध होकर कहा—यह एक दिन आपको जरूर दगा देगा!

राजा—इस खौफ से मैं उसकी जान न लूँगा।

बादशाह—तो जनाब, आप चाहे इसे मुआफ कर दें, मैं कभी मुआफ नहीं कर सकता।

राजा—आपने तो इसे मेरे सिपुर्द कर दिया है। दी हुई चीज आप वापस

कैसे लेंगे ?

बादशाह ने कहा—तुमने मेरे निकलने का कहीं रास्ता ही नहीं रखा।

रोशनुद्दौला की जान बच गयी। वजारत का पद कप्तान साहब को मिला। मगर सबसे विचित्र बात यह थी कि रेजीडेंट ने इस षड्यंत्र से पूर्ण अनभिज्ञता प्रकट की, और साफ लिख दिया कि बादशाह सलामत अपने अँगरेज मुसाहबों को चाहे जो सजा दें, मुझे कोई आपत्ति न होगी। मैं उन्हें पाता, तो स्वयं बादशाह की खिदमत में भेज देता, लेकिन पाँचों महानुभावों में से एक का भी पता न चला। शायद वे सब-के-सब रातों-रात कलकत्ते भाग गये थे। इतिहास में उक्त घटना का कहीं उल्लेख नहीं किया गया, लेकिन किंवदन्तियाँ, जो इतिहास से अधिक विश्वसनीय हैं, उसकी सत्यता की साक्षी हैं।

अधिकार-चिन्ता

टामी यों देखने में तो बहुत तगड़ा था। भूँकता, तो सुननेवालों के कानों के परदे फट जाते। डील-डौल भी ऐसा कि अँधेरी रात में उस पर गधे का भ्रम हो जाता; लेकिन उसकी श्वानोचित वीरता किसी संग्राम-क्षेत्र में प्रमाणित न होती थी। दो-चार दफे जब बाजार के लेंडियों ने चुनौती दी, तो वह उनका गर्व-मर्दन करने के लिए मैदान में आया। देखनेवालों का कहना है कि वह जब तक लड़ा, जीवट से लड़ा; नखों और दाँतों से ज्यादा चोटें उसकी दुम ने कीं। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मैदान किसके हाथ रहता, किन्तु जब उस दल को कुमक मँगानी पड़ी तो रण-शास्त्र के नियमों के अनुसार विजय का श्रेय टामी को ही देना न्यायानुकूल उचित जान पड़ता है। टामी ने उस अवसर पर कौशल से काम लिया, और दाँत निकाल दिये, जो संधि की याचना थी; किन्तु तब से उसने ऐसे सन्नीति-विहीन प्रतिद्वंद्वियों के मुँह लगाना उचित न समझा।

इतना शान्ति-प्रिय होने पर भी टामी के शत्रुओं की संख्या दिनोंदिन बढ़ती

जाती थी। उसके बराबरवाले तो उससे इसलिए जलते कि वह इतना भी
क्यों है। बाजारी दल इसलिए जलता कि टामी के मारे घूरों पर हड्डियाँ भी
बचने पाती थीं। वह घड़ी रात रहे उठता, और हलवाइयों की दूकानों के साम
के दोने-पत्तल, कसाईखाने के सामने की हड्डियाँ और छीछड़े चबा डालता
अतएव इतने शत्रुओं के बीच में रहकर टामी का जीवन संकटमय होता जात
था। महीनों बीत जाते, और पेट-भर भोजन न मिलता। दो-तीन बार उ
मनमाने भोजन करने की ऐसी प्रबल उत्कंठा हुई कि उसने संदिग्ध साधन
द्वारा उसे पूरी करने की चेष्टा की; पर जब परिणाम आशा के प्रतिकूल हुआ
और स्वादिष्ट पदार्थों के बदले अरुचिकर, दुर्ग्राह्य वस्तुएँ भर-पेट खाने क
मिलीं—जिससे पेट के बदले कई दिन तक पीठ में विषम वेदना होती रही—
तो उसने विवश होकर फिर सन्मार्ग का आश्रय लिया। पर डण्डों से पेट चा
भर गया हो, वह उत्कण्ठा शान्त न हुई। वह किसी ऐसी जगह जाना चाहत
था, जहाँ खूब शिकार मिले; खरगोश, हिरन, भेड़ों के बच्चे मैदानों में विचर र
हों; और उनका कोई मालिक न हो, जहाँ किसी प्रतिद्वन्द्वी की गन्ध तक
हो; आराम करने को सघन वृक्षों की छाया हो, पीने को नदी का पवित्र जल
वहाँ मनमाना शिकार करूँ, खाऊँ और मीठी नींद सोऊँ। वहाँ चारों ओ
मेरी धाक बैठ जाय; सब पर ऐसा रोब छा जाय कि मुझको ही अपना राजा सम
झने लगें, और धीरे-धीरे मेरा ऐसा सिक्का बैठ जाय कि किसी द्वेषी को वह
पैर रखने का साहस ही न हो।

संयोगवश एक दिन वह इन्हीं कल्पनाओं के सुख-स्वप्न देखता हुआ सि
झुकाये सड़क छोड़कर गलियों से चला जा रहा था कि सहसा एक सज्जन
उसकी मुठभेड़ हो गयी। टामी ने चाहा कि बचकर निकल जाऊँ; पर वह दुष
इतना शान्ति-प्रिय न था। उसने तुरन्त झपटकर टामी का टेंटुआ पकड़ लिया
टामी ने बहुत अनुनय-विनय की; गिड़गिड़ाकर कहा—ईश्वर के लिए मु
यहाँ से चले जाने दो; कसम ले लो, जो इधर पैर रखूँ। मेरी शामत आय
थी कि तुम्हारे अधिकार-क्षेत्र में चला आया। पर उस मदान्ध और निर्द
प्राणी ने जरा भी रियायत न की। अन्त में हारकर टामी ने गर्दभ-स्वर में फ
याद करनी शुरू की। यह कोलाहल सुनकर मोहल्ले के दो-चार नेता लो

एकत्र हो गये; पर उन्होंने भी दीन पर दया करने के बदले उलटे उसी पर दन्त-प्रहार करना शुरू किया। इस अन्याय-पूर्ण व्यवहार ने टामी का दिल तोड़ दिया। वह जान छोड़कर भागा! उन अत्याचारी पशुओं ने बहुत दूर तक उसका पीछा किया; यहाँ तक कि मार्ग में एक नदी पड़ गयी। टामी ने उसमें कूदकर अपनी जान बचायी।

कहते हैं, एक दिन सबके दिन फिरते हैं। टामी के दिन भी नदी में कूदते ही फिर गये। कूदा था जान बचाने के लिए, हाथ लग गये मोती। तैरता हुआ उस पार पहुँचा, तो वहाँ उसकी चिरसंचित अभिलाषाएँ मूर्तिमती हो रही थीं।

(२)

एक विस्तृत मैदान था। जहाँ तक निगाह जाती, हरियाली की छटा दिखायी देता। कहीं नालों का मधुर कलरव था, कहीं झरनों का मन्द गान; कहीं वृक्षों के सुखद पुंज, कहीं रेत के सपाट मैदान। बड़ा सुरम्य-मनोहर दृश्य था।

यहाँ बड़े तेज नखोंवाले पशु थे, जिनकी सूरत देखकर टामी का कलेजा दहल उठता। उन्होंने टामी की कुछ परवा न की। वे आपस में नित्य लड़ा करते; नित्य खून की नदी बहा करती थी। टामी ने देखा, यहाँ इन भयंकर जन्तुओं से पेश न पा सकूँगा। उसने कौशल से काम लेना शुरू किया। जब दो लड़नेवाले पशुओं में एक घायल और मुर्दा होकर गिर पड़ता, तो टामी लपककर मांस का कोई टुकड़ा ले भगता और एकान्त में बैठकर खाता। विजयी पशु विजय के उन्माद में उसे तुच्छ समझकर कुछ न बोलता।

अब क्या था, टामी के पौ-बारह हो गये। सदा दिवाली रहने लगी। न गुड़ की कमी थी, न गेहूँ की। नित-नये पदार्थ उड़ाता; और वृक्षों के नीचे आनन्द से सोता। उसने ऐसे सुख-स्वर्ग की कल्पना भी न की थी। वह मरकर नहीं, जीते-जी स्वर्ग पा गया।

थोड़े ही दिनों में पौष्टिक पदार्थों के सेवन से टामी की चेष्टा ही कुछ और हो गयी। उसका शरीर तेजस्वी और सुसंगठित हो गया। अब वह छोटे-मोटे जीवों पर स्वयं हाथ साफ करने लगा। जंगल के जीव-जन्तु तब चौंके,

और उसे वहाँ से भगा देने का यत्न करने लगे। टामी ने एक नयी चाल चली। वह किसी पशु से कहता, तुम्हरा फलाँ शत्रु तुम्हें मार डालने की तैयारी कर रहा है। किसी से कहता, फलाँ तुमको गाली देता था। जंगल के जन्तु उसके चकमे में आकर आपस में लड़ जाते, और टामी की चाँदी हो जाती। अन्त में यहाँ तक नौबत पहुँची कि बड़े-बड़े जन्तुओं का नाश हो गया। छोटे-छोटे पशुओं को उससे मुक़ाबला करने का साहस न होता। उसकी उन्नति और शक्ति देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो यह विचित्र जीव आकाश से हमारे ऊपर शासन करने के लिए भेजा गया है। टामी भी अब अपनी शिकारबाजी के जौहर दिखाकर उनकी इस भ्रान्ति को पुष्ट किया करता। वह बड़े गर्व से कहता—परमात्मा ने मुझे तुम्हारे ऊपर राज्य करने के लिए भेजा है। यह ईश्वर की इच्छा है। तुम आराम से अपने घरों में पड़े रहो, तुमसे कुछ न बोलूँगा, केवल तुम्हारी सेवा करने के पुरस्कार-स्वरूप तुममें से एक आध का शिकार कर लिया करूँगा। आखिर मेरे भी तो पेट है; बिना आहार के कैसे जीवित रहूँगा? वह अब बड़ी शान से जंगल में चारों ओर गौरवान्वित दृष्टि से ताकता हुआ विचरा करता।

टामी को अब कोई चिन्ता थी, तो यह कि इस देश में मेरा कोई मुद्दई उठ खड़ा हो। वह नित्य सजग और सशस्त्र रहने लगा। ज्यों-ज्यों दिन गुज़रते थे, और उसके सुख-भोग का चसका बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उसकी चिन्ता भी बढ़ती जाती थी। वह अब बहुधा रात को चौंक पड़ता, और किसी अज्ञात शत्रु के पीछे दौड़ता। अक्सर 'अन्धा कूकुर बतासे भूँके वाली' लोकोक्ति को चरितार्थ करता; वन के पशुओं से कहता—ईश्वर न करे, तुम किसी दूसरे शासक के पंजे में फँस जाओ। वह तुम्हें पीस डालेगा। मैं तुम्हारा हितैषी हूँ। सदैव तुम्हारी शुभ कामना में मग्न रहता हूँ। किसी दूसरे से यह आशा मत रखो। पशु एक ही स्वर से कहते—जब तक हम जियेंगे, आपके ही अधीन रहेंगे!

आखिरकार यह हुआ कि टामी को क्षण-भर भी शान्ति से बैठना दुर्लभ हो गया। वह रात-रात और दिन-दिन-भर नदी के किनारे इधर-से-उधर चक्कर लगाया करता। दौड़ते-दौड़ते हाँफने लगता, बेदम हो जाता; मग

चित्त को शान्ति न मिलती। कहीं कोई शत्रु न घुस आये।

लेकिन क्वाँर का महीना आया, तो टामी का चित्त एक बार फिर अपने पुराने सहचरों से मिलने के लिए लालायित होने लगा। वह अपने मन को किसी भाँति रोक न सका। उसे वह दिन याद आया, जब वह दो-चार मित्रों के साथ किसी प्रेमिका के पीछे गली-गली और कूचे-कूचे में चक्कर लगाता था। दो-चार दिन उसने सब्र किया, पर अन्त में आवेग इतना प्रबल हुआ कि वह तकदीर ठोककर खड़ा हो गया। उसे अब अपने तेज और बल पर अभिमान भी था। दो-चार को तो वह अकेले मजा चखा सकता था।

किन्तु नदी के इस पार आते ही उसका आत्मविश्वास प्रातःकाल के तम के समान फटने लगा। उसकी चाल मन्द पड़ गयी, सिर आप-ही-आप झुक गया, दुम सिकुड़ गयी; मगर एक प्रेमिका को आते देखकर वह विह्वल हो उठा। उसके पीछे हो लिया। प्रेमिका को उसकी वह कुचेष्टा अप्रिय लगी। उसने तीव्र स्वर से उसकी अवहेलना की। उसकी आवाज सुनते ही उसके कई प्रेमी आ पहुँचे, और टामी को वहाँ देखते ही जामे से बाहर हो गये। टामी सिटपिटा गया। अभी निश्चय न कर सका था कि क्या करूँ कि चारों ओर से उस पर दाँतों और नखों की वर्षा होने लगी। भागते भी न बन पड़ा। देह लहू-लुहान हो गयी। भागा भी, तो शैतानों का एक दल पीछे था।

उस दिन से उसके दिल में शंका-सी समा गयी। हर घड़ी यह भय लगा रहता कि आक्रमणकारियों का दल मेरे सुख और शान्ति में बाधा डालने के लिए, मेरे स्वर्ग को विध्वंस करने के लिए आ रहा है। यह शंका पहले भी कम न थी, अब और भी बढ़ गयी।

एक दिन उसका चित्त भय से इतना व्याकुल हुआ कि उसे जान पड़ा, शत्रु-दल आ पहुँचा। वह बड़े वेग से नदी के किनारे आया, और इधर-से-उधर दौड़ने लगा।

दिन बीत गया, रात बीत गयी; पर उसने विश्राम न लिया। दूसरा दिन आया; और गया, पर टामी निराहार-निर्जल नदी-किनारे चक्कर लगाता रहा।

इस तरह पाँच दिन बीत गये। टामी के पैर लड़खड़ाने लगे, आँखों-तले अँधेरा छाने लगा। क्षुधा से व्याकुल होकर गिर-गिर पड़ता, पर वह शंका

किसी भाँति शान्त न होती।

अन्त में सातवें दिन अभागा टामी अधिकार-चिन्ता से त्रस्त, जर्जर और शिथिल होकर परलोक सिधारा। वन का कोई पशु उसके निकट न गया। किसी ने उसकी चर्चा तक न की, किसी ने उसकी लाश पर आँसू तक न बहाये। कई दिनों तक उस पर गिद्ध और कौए मँडराते रहे; अन्त में अस्थि-पिंजरों के सिवा और कुछ न रह गया।

दुराशा

(प्रहसन)

पात्र

दयाशंकर..................कार्यालय के एक साधारण लेखक।

आनन्दमोहन........... { कॉलेज का एक विद्यार्थी तथा दयाशंकर का मित्र।

ज्योतिस्वरूप................दयाशंकर का एक सुदूर-सम्बन्धी।

सेवती.......................दयाशंकर की पत्नी।

होली का दिन

[समय—९ बजे रात्रि। आनन्दमोहन तथा दयाशंकर वार्त्तालाप करते जा रहे हैं।]

आनन्दमोहन—हम लोगों को देर तो नहीं हुई। अभी तो नौ बजे होंगे।

दयाशंकर—नहीं, अभी क्या देर होगी?

आनन्दमोहन—वहाँ बहुत इन्तजार न कराना, क्योंकि एक तो दिन-भर गली-गली घूमने के पश्चात् मुझमें इन्तजार करने की शक्ति ही नहीं, दूसरे ठीक ग्यारह बजे बोर्डिंग हाउस का दरवाजा बन्द हो जाता है।

दयाशंकर—अजी, चलते-चलते थाली सामने आयेगी। मैंने तो सेवती से पहले ही कह दिया है कि नौ बजे तक सब सामान तैयार रखना।

आनन्दमोहन—तुम्हारा घर तो अभी दूर है। यहाँ मेरे पैरों में चलने की शक्ति ही नहीं। आओ, कुछ बातचीत करते चलें। भला यह तो बताओ कि परदे के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या विचार है? भाभीजी मेरे सामने आयेंगी, या नहीं? क्या मैं उनके चन्द्र-मुख का दर्शन कर सकूँगा? सच कहो।

दयाशंकर—तुम्हारे और मेरे बीच में तो भाईचारे का सम्बन्ध है। यदि सेवती मुँह खोले हुए भी तुम्हारे सम्मुख आ जाय, तो मुझे कोई ग्लानि नहीं। किन्तु साधारणतः मैं परदे की प्रथा का सहायक और समर्थक हूँ, क्योंकि हम लोगों की सामाजिक नीति इतनी पवित्र नहीं कि कोई स्त्री अपने लज्जा-भाव को चोट पहुँचाए बिना ही अपने घर से बाहर निकले।

आनन्दमोहन—मेरे विचार में तो परदा ही कुचेष्टाओं का मूल कारण है। परदे से स्वभावतः पुरुषों के चित्त में उत्सुकता उत्पन्न होती है, और वह भाव कभी तो बोली-ठोली में प्रकट होता है, और कभी नेत्रों के कटाक्षों में।

दयाशंकर—जब तक हम लोग इतने दृढ़-प्रतिज्ञ न हो जायँ कि सतीत्व-रक्षा के पीछे प्राण भी बलिदान कर दें, तब तक परदे की प्रथा का तोड़ना समाज-मार्ग में विष बोना है।

आनन्दमोहन—आपके विचार से तो यही सिद्ध होता है कि योरप में सतीत्व-रक्षा के लिए रात-दिन रुधिर की नदियाँ बहा करती हैं।

दयाशंकर—वहाँ इसी बेपरदगी ने तो सतीत्व धर्म को निर्मूल कर दिया है। कभी मैंने किसी समाचार-पत्र में पढ़ा था कि एक स्त्री ने किसी पुरुष पर इस प्रकार का अभियोग चलाया था कि उसने मुझे निर्भीकता-पूर्वक कुदृष्टि से घूरा था; किन्तु विचारक ने उस स्त्री को नख-शिख से देख यह कहकर मुकदमा खारिज कर दिया कि प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि हाट-बाट में नौजवान स्त्री को घूरकर देखे। मुझे तो यह अभियोग और यह फैसला सर्वथा हास्यास्पद जान पड़ते हैं, और किसी भी समाज को निन्दित करनेवाले हैं।

आनन्दमोहन—इस विषय को छोड़ो। यह तो बताओ कि इस समय क्या-क्या खिलाओगे। मित्र नहीं, तो मित्र की चर्चा ही हो।

दयाशंकर—यह तो सेवती की पाक-कला-कुशलता पर निर्भर है। पूरियाँ और कचौरियाँ तो होंगी ही। यथासम्भव खूब खरी भी होंगी, यथाशक्ति खस्ते

और समोसे भी आयेंगे। खीर आदि के बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है। आलू-गोभी की शोरबेदार तरकारी और मटर-दालमोठ भी मिलेंगे। फीरिनी के लिए भी कह आया था। गूलर के कोफते और आलू के कबाब—ये दोनो सेवती खूब पकाती है। इनके सिवा दही-बड़े और चटनी-अचार की चर्चा तो व्यर्थ ही है। हाँ, शायद किशमिश का रायता भी मिले, जिसमें केसर की सुगन्ध उड़ती होगी।

आनन्दमोहन—मित्र, मेरे मुँह में तो पानी भर आया। तुम्हारी बातों ने तो मेरे पैरों में जान डाल दी। शायद पर होते, तो उड़कर पहुँच जाता।

दयाशंकर—लो, अब आये ही जाते हैं। यह तम्बाकूवाले की दूकान है, इसके बाद चौथा मकान अपना ही है।

आनन्दमोहन—मेरे साथ बैठकर एक ही थाली में खाना। कहीं ऐसा न हो कि अधिक खाने के लिए मुझे भाभीजी के सामने लज्जित होना पड़े।

दयाशंकर—इससे तुम निश्शंक रहो। उन्हें मिताहारी आदमी से चिढ़ है। वह कहती हैं—'जो खायगा ही नहीं, वह दुनिया में काम क्या करेगा।' आज शायद तुम्हारी बदौलत मुझे भी काम करनेवालों की पंक्ति में स्थान मिल जाय। कम-से-कम कोशिश तो ऐसी ही करना।

आनन्दमोहन—भाई, यथाशक्ति चेष्टा करूँगा। शायद तुम्हें ही प्रधान-पद मिल जाय।

दयाशंकर—यह लो, आ गये। देखना, सीढ़ियों पर अँधेरा है। शायद चिराग जलाना भूल गयीं।

आनन्दमोहन—कोई हर्ज नहीं। तिमिर-लोक ही में तो सिकन्दर को अमृत मिला था।

दयाशंकर—अन्तर इतना ही है कि तिमिर-लोक में पैर फिसले तो पानी में गिरोगे, और यहाँ फिसले तो, पथरीली सड़क पर।

[ज्योतिस्वरूप आते हैं।]

ज्योतिस्वरूप—सेवक भी उपस्थित हो गया। देर तो नहीं हुई? डबल मार्च करता आया हूँ।

दयाशंकर—नहीं, अभी तो देर नहीं हुई। शायद आपकी भोजनाभिलाषा

आपको समय से पहले खींच लायी।

आनन्दमोहन—आपका परिचय कराइए। मुझे आपसे देखा-देखी नहीं है।

दयाशंकर—(अँगरेजी में) मेरे सुदूर के सम्बन्ध में साले होते हैं। एक वकील के मुहर्रिर हैं। जबर्दस्ती नाता जोड़ रहे हैं। सेवती ने निमन्त्रण दिया होगा। मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं। यह अँगरेजी नहीं जानते।

आनन्दमोहन—इतना तो अच्छा है। अँगरेजी में ही बातें करेंगे।

दयाशंकर—सारा मजा किरकिरा हो गया। कुमानुषों के साथ बैठकर खाना, फोड़े का ऑपरेशन कराने के बराबर है।

आनन्दमोहन—किसी उपाय से इन्हें बिदा कर देना चाहिए।

दयाशंकर—मुझे तो चिन्ता यह है कि अब संसार के कार्यकर्ताओं में हमारी और तुम्हारी गणना ही न होगी। पाला इसी के हाथ रहेगा।

आनन्दमोहन—खैर ऊपर चलो। आनन्द तो तब आये, जब इन महाशय को आधे पेट ही उठना पड़े।

[तीनों आदमी ऊपर जाते हैं]

दयाशंकर—अरे ! कमरे में भी रोशनी नहीं, अँधेरा घुप है। लाला ज्योतिस्वरूप, देखिएगा, कहीं ठोकर खाकर न गिर पड़िएगा।

आनन्दमोहन—अरे गजब....

[अलमारी से टकराकर धम्-से गिर पड़ता है।]

दयाशंकर—लाला ज्योतिस्वरूप, क्या आप गिर पड़े ! चोट तो नहीं आयी ?

आनन्दमोहन—अजी, मैं गिर पड़ा। कमर टूट गयी। तुमने अच्छी दावत की।

दयाशंकर—भले आदमी, सैकड़ों बार तो आये हो। मालूम नहीं था कि सामने अलमारी रखी हुई है ? क्या ज्यादा चोट लगी ?

आनन्दमोहन—भीतर जाओ। थालियाँ लाओ, और भाभीजी से कह देना कि थोड़ा-सा तेल गर्म कर लें। मालिश कर लूँगा।

ज्योतिस्वरूप—महाशय, यह आपने क्या रख छोड़ा है। जमीन पर गिर पड़ा।

दयाशंकर—उगालदान तो नही लुढ़का दिया। हाँ, वही तो है। सारा फर्श खराब हो गया।

आनन्दमोहन—बन्धुवर, जाकर लालटेन जला लाओ। कहाँ लाकर काल-कोठरी में डाल दिया।

दयाशंकर—(घर में जाकर) अरे! यहाँ भी तो अँधेरा है! चिराग तक नहीं। सेवती, कहाँ हो?

सेवती—बैठी तो हूँ।

दयाशंकर—यह बात क्या है? चिराग क्यों नहीं जले? तबीयत तो अच्छी है?

सेवती—बहुत अच्छी है। बारे तुम, आ तो गये। मैंने समझा था कि आज आपका दर्शन ही न होगा।

दयाशंकर—ज्वर है क्या? कब से आया है?

सेवती—नहीं, ज्वर-स्वर कुछ नहीं। चैन से बैठी हूँ।

दयाशंकर—तुम्हारा पुराना वायुगोला तो नहीं उभर आया?

सेवती—(व्यंग्य से) हाँ, वायुगोला ही है। लाओ, कोई दवा है?

दयाशंकर—अभी डॉक्टर के यहाँ से मँगवाता हूँ।

सेवती—कुछ मुफ्त की रकम हाथ आ गयी है क्या? लाओ, मुझे दे दो, अच्छी हो जाऊँ।

दयाशंकर—तुम तो हँसी कर रही हो। साफ-साफ कोई बात नहीं करतीं। क्या मेरे देर से आने का यही दण्ड है? मैंने नौ बजे आने का वचन दिया था। शायद दो-चार मिनट अधिक हुए हों। सब चीजें तैयार हैं न?

सेवती—हाँ, बहुत ही खस्ता। आधोआध मक्खन डाला था।

दयाशंकर—आनन्दमोहन से मैंने तुम्हारी खूब प्रशंसा की है।

सेवती—ईश्वर ने चाहा, तो वह भी प्रशंसा ही करेंगे। पानी रख आओ, हाथ-वाथ तो धोयें।

दयाशंकर—चटनियाँ भी बनवा ली हैं न? आनन्दमोहन को चटनियों से बहुत प्रेम है।

सेवती—खूब चटनी खिलाओ। सेरों बना रखी है।

दयाशंकर—पानी में केवड़ा डाल दिया है ?

सेवती—हाँ, ले जाकर पानी रख आओ। पीना आरम्भ करें, प्यास लगी गी।

आनन्दमोहन—(बाहर से) मित्र, शीघ्र आओ। अब इन्तजार करने की क्ति नहीं है।

दयाशंकर—जल्दी मचा रहा है। लाओ थालियाँ परसो।

सेवती—पहले चटनी और पानी तो रख आओ।

दयाशंकर—(रसोई में जाकर) अरे! यहाँ तो चूल्हा बिलकुल ठण्डा पड़ या है। महरी आज सबेरे काम कर गयी क्या ?

सेवती—हाँ खाना पकने से पहले ही आ गयी थी।

दयाशंकर—बरतन सब मँजे हुए रखे हैं। क्या कुछ पकाया ही नहीं ?

सेवती—भूत-प्रेत आकर खा गये होंगे।

दयाशंकर—क्या चूल्हा ही नहीं जलाया ? गजब कर दिया।

सेवती—गजब मैंने कर दिया, या तुमने ?

दयाशंकर—मैंने तो सब सामान लाकर रख दिया था। तुमसे बार-बार छ लिया था कि किसी चीज की कमी हो, तो बतलाओ; फिर खाना क्यों न का ? क्या विचित्र रहस्य है! भला मैं इन दोनो को क्या मुँह दिखाऊँगा।

आनन्दमोहन—मित्र, क्या तुम अकेले ही सब सामग्री चट कर रहे हो ? धर भी लोग आशा लगाये बैठे हैं। इन्तजार दम तोड़ रहा है।

सेवती—यदि सब सामग्री लाकर रख ही देते तो मुझे बनाने में क्या पत्ति थी।

दयाशंकर—अच्छा, यदि दो-एक वस्तुओं की कमी ही रह गयी थी, तो सका क्या यह अभिप्राय है कि चूल्हा ही न जले। यह तो तुमने किसी अप- ध का दण्ड दिया है। आज होली का दिन, और यहाँ आग ही न जली।

सेवती—जब तक ऐसे चरके न खाओगे, तुम्हारी आँखें न खुलेंगी।

दयाशंकर—तुम तो पहेलियों में बातें कर रही हो। आखिर किस बात पर प्रसन्न हो ? मैंने कौन-सा अपराध किया है ? जब मैं यहाँ से जाने लगा था— ब तुम प्रसन्न-मुख थीं; इसके पहले भी मैंने तुम्हें दुखी नहीं देखा था। तो

मेरी अनुपस्थिति में कौन ऐसी बात हो गयी कि तुम रूठ गयीं ?

सेवती—घर में स्त्रियों को कैद करने का यह दण्ड है।

दयाशंकर—अच्छा, तो यह इस अपराध का दण्ड है ? मगर तुमने मु परदे की निन्दा नहीं की; बल्कि इस विषय पर जब कोई बात छिड़ती, तुम मेरे ही विचारों से सहमत रहती थीं। मुझे आज ही ज्ञात हुआ है कि त परदे से इतनी घृणा है। दोनो अतिथियों से यह कह दूं कि परदे की सहाय के दण्ड में मेरे यहाँ अनशन-व्रत है। आप लोग ठण्ठी-ठण्डी हवा खायें।

सेवती—जो चीजें तैयार हैं, उन्हें जाकर खिलाओ, जो नहीं है, उस लिए क्षमा माँगो।

दयाशंकर—मैं तो कोई चीज तैयार नहीं देखता।

सेवती—है क्यों नहीं। चटनी बना ही डाली है, और पानी भी पहले तैयार है।

दयाशंकर—यह दिल्लगी तो हो चुकी। सचमुच बतलाओ, खाना क नहीं पकाया ? क्या तबीयत खराब हो गयी थी, अथवा किसी कुत्ते ने आ रसोई अपवित्र कर दी ?

आनन्दमोहन—बाहर क्यों नहीं आते हो भाई, भीतर-ही-भीतर क्या मि कौट कर रहे हो ? अगर सब चीजें नहीं तैयार हैं तो न सही। जो कुछ तैय हो, वही लाओ। इस समय तो सादी पूरियाँ भी खस्ते से अधिक स्वादि जान पड़ेंगी। कुछ लाओ तो, भला श्रीगणेश तो हो। मुझसे अधिक उत्सु मेरे मित्र मुंशी ज्योतिस्वरूप हैं।

सेवती—भैया ने दावत के इन्तजार में आज दोपहर को भी खाना खाया होगा।

दयाशंकर—बात क्यों टालती हो, मेरी बातों का जवाब क्यों नहीं देती

सेवती—नहीं जवाब देती, क्या कुछ आपका कर्ज खाया है या रसो बनाने के लिए लौंडी हूँ !

दयाशंकर—यदि मैं घर का काम करके अपने को दास नहीं समझत तो तुम घर का काम करके अपने को दासी क्यों समझती हो !

सेवती—मैं नहीं समझती, तुम समझते हो।

दयाशंकर—क्रोध मुझे आना चाहिए, उलटे तुम बिगड़ रही हो।

सेवती—तुम्हें क्यों मुझ पर क्रोध आना चाहिए? इसलिए कि तुम पुरुष ?

दयाशंकर—नहीं इसलिए कि तुमने आज मुझे मेरे मित्रों तथा सम्बन्धियों सम्मुख नीचा दिखाया।

सेवती—नीचा दिखाया तुमने मुझे, या मैंने तुम्हें? तुम तो किसी प्रकार मा करा लोगे, किन्तु कालिमा तो मेरे मुख लगेगी।

आनन्दमोहन—भई, अपराध क्षमा हो, मैं भी वहीं आता हूँ। यहाँ तो सी पदार्थ की सुगन्ध तक नहीं आती।

दयाशंकर—क्षमा क्या करा लूँगा, लाचार होकर बहाना करना पड़ेगा।

सेवती—चटनी खिलाकर पानी पिलाओ। इतना सत्कार बहुत है। होली दिन है, यह भी एक प्रहसन रहेगा।

दयाशंकर—प्रहसन क्या रहेगा, कहीं मुख दिखाने-योग्य न रहूँगा। खिर तुम्हें यह क्या शरारत सूझी।

सेवती—फिर वही बात? शरारत क्यों सूझती? क्या तुमसे और तुम्हारे त्रों से कोई बदला लेना था? लेकिन जब लाचार हो गयी, तब क्या करती। तो दस मिनट पछताकर, और मुझ पर अपना क्रोध मिटाकर आनन्द से ओगे। यहाँ तो मैं तीन बजे से बैठी झींख रही हूँ। यह सब तुम्हारी कर- है।

दयाशंकर—यही तो पूछता हूँ कि मैंने क्या किया?

सेवती—तुमने मुझे पिंजरे में बन्द कर दिया, पर काट दिये! मेरे सामने ना रख दो, तो खाऊँ, घुघिया में पानी डाल दो, तो पीऊँ, यह किसका र है?

दयाशंकर—भाई, छिपी-छिपी बातें न करो। साफ-साफ क्यों नहीं कहतीं?

आनन्दमोहन—बिदा होता हूँ, बिना मौज उड़ाये। नहीं, बाजार की दूकानें बन्द हो जायेंगी! खूब चकमा दिया, मित्र, फिर समझेंगे। लाला ज्योति- रूप तो बैठे-बैठे अपनी निराशा को खर्राटों से भुला रहे हैं। मुझे यह सन्तोष हीं! तारे भी नहीं हैं कि बैठकर उन्हें ही गिनूँ। इस समय तो स्वादिष्ट

पदार्थों का स्मरण कर रहा हूँ।

दयाशंकर—बन्धुवर, दो मिनट और सन्तोष करो! आया। हाँ ल
ज्योतिस्वरूप से कह दो कि किसी हलवाई की दूकान से पूरियाँ ले आयें।
कम पड़ गयी हैं। आज दोपहर ही से इनकी तबीयत खराब हो गयी है।
मेज की दराज में रुपए रखे हुए हैं।

सेवती—साफ-साफ तो यही है कि तुम्हारे परदे ने मुझे पंगु बना दिया
कोई मेरा गला भी घोंट जाय, तो फरियाद नहीं कर सकती।

दयाशंकर—फिर भी वही अन्योक्ति! इस विषय का अन्त भी होग
नहीं।

सेवती—दियासलाई तो थी ही नहीं फिर आग कैसे जलाती!

दयाशंकर—अहा! मैंने जाते समय दियासलाई की डिबिया जेब में
ली थी—जरा-सी बात का तुमने इतना बतंगड़ बना दिया। शायद मुझे
करने के लिए अवसर ढूँढ़ रही थीं! कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही जान प
है।

सेवती—यह तुम्हारी ज्यादती है। ज्योंही तुम सीढ़ी से उतरे, मेरी
डिबिया पर पड़ गयी, किन्तु वह लापता थी। ताड़ गयी कि तुम ले गये।
मुश्किल से दरवाजे तक पहुँचे होगे। अगर जोर से पुकारती, तो तुम सुन ले
लेकिन नीचे दूकानदारों के कान में भी आवाज जाती, तो सुनकर तुम न-
मेरी कौन-कौन दुर्दशा करते। हाथ मलकर रह गयी। उसी समय से
व्याकुल हो रही हूँ कि किसी प्रकार भी दियासलाई मिल जाती, तो आ
होता। मगर कोई वश न चला। अन्त में लाचार होकर बैठ रही।

दयाशंकर—यह कहो कि तुम मुझे तंग करना चाहती थीं। नहीं तो,
आग या दियासलाई न मिल जाती?

सेवती—अच्छा, तुम मेरी जगह होते, तो क्या करते? नीचे सब-के
दूकानदार और तुम्हारी जान-पहचान के हैं। घर के एक ओर पंडितजी
हैं। इनके घर में कोई स्त्री नहीं। सारे दिन फाग हुई है, बाहर के सैकड़ों आ
जमा थे; दूसरी ओर बंगाली बाबू रहते हैं। उनके घर की स्त्रियाँ किसी सम्ब
से मिलने गयी हैं, और अब तक नहीं आयीं। इन दोनों घरों से भी बिना ह

र आये चीज़ न मिल सकती थी। लेकिन शायद तुम इतनी बेपर्दगी को क्षमा करते। और कौन ऐसा था, जिससे कहती कि कहीं से आग ला दो। महरी म्हारे सामने ही चौका-बरतन करके चली गयी थी। रह-रहकर तुम्हारे ही पर क्रोध आता था।

दयाशंकर—तुम्हारी लाचारी का कुछ अनुमान कर सकता हूँ, पर मुझे ब भी यह मानने में आपत्ति है कि दियासलाई का न होना चूल्हा न जलने ा वास्तविक कारण हो सकता है।

सेवती—तुम्हीं से पूछती हूँ कि बतलाओ क्या करती?

दयाशंकर—मेरा मन इस समय स्थिर नहीं है, किन्तु मुझे विश्वास है क यदि मैं तुम्हारे स्थान पर होता, तो होली के दिन और खासकर जब अतिथि ी उपस्थित हों, चूल्हा ठण्डा न रहता; कोई-न-कोई उपाय अवश्य ही निका- ता।

सेवती—जैसे?

दयाशंकर—एक रुक्का लिखकर किसी दूकानदार के सामने फेंक देता।

सेवती—यदि मैं ऐसा करती, तो शायद तुम आँख मिलाने का कलंक ुझ पर लगाते।

दयाशंकर—अंधेरा हो जाने पर सिर से पैर तक चादर ओढ़कर बाहर नकल जाता, और दियासलाई ले आता। घंटे-दो घंटे में अवश्य ही कुछ-न- ुछ तैयार हो जाता। ऐसा उपवास तो न करना पड़ता।

सेवती—बाजार जाने से मुझे तुम गली-गली घूमनेवाली कहते, और गला ाटने पर उतारू हो जाते। तुमने मुझे कभी भी इतनी स्वतंत्रता नहीं दी। दि कभी स्नान करने जाती हूँ, तो गाड़ी का पट बन्द रहता है।

दयाशंकर—अच्छा, तुम जीतीं और मैं हारा। यह सदैव के लिए उपदेश मल गया कि ऐसे अत्यावश्यक समय पर तुम्हें घर से बाहर निकलने की वतन्त्रता है।

सेवती—मैं तो इसे आकस्मिक समय नहीं कहती। आकस्मिक समय तो ह है कि दैवात् घर में कोई बीमार हो जाय, और उसे डॉक्टर के यहाँ ले जाना ावश्यक हो।

दयाशंकर—निस्सन्देह वह समय आकस्मिक है। उस दशा में तुम्हारे में कोई हस्तक्षेप नहीं।

सेवती—और भी आकस्मिक समय गिनाऊँ?

दयाशंकर—नहीं, भाई, इसका फैसला तुम्हारी बुद्धि पर निर्भर है।

आनन्दमोहन—मित्र, सन्तोष की सीमा तो हो गयी, अब प्राण-पीड़ रहीं है। ईश्वर करे, घर आबाद रहे; बिदा होता हूँ।

दयाशंकर—बस, एक मिनट और। उपस्थित हुआ।

सेवती—चटनी, और पानी लेते जाओ, और पूरियाँ बाजार से मँ लो। इसके सिवा इस समय हो ही क्या सकता है।

दयाशंकर—(मरदाने कमरे में आकर) पानी लाया हूँ, प्यालियों में च है, आप लोग जब तक भोग लगायें। मैं अभी आता हूँ!

आनन्दमोहन—धन्य है ईश्वर! भला तुम बाहर तो निकले। मैंने स था कि एकान्त-वास करने लगे, मगर निकले भी तो चटनियाँ लेकर। वे दिष्ट वस्तुएँ क्या हुईं, जिनका आपने वादा किया था, और जिनका स्म मैं प्रेमानुरक्त भाव से कर रहा हूँ।

दयाशंकर—ज्योतिस्वरूप कहाँ गये?

आनन्दमोहन—उर्ध्व संसार में भ्रमण कर रहे हैं। बड़ा ही अद्भुत उ सीन मनुष्य है कि आते-ही-आते सो गया, और अभी तक नहीं चौंका।

दयाशंकर—मेरे यहाँ एक दुर्घटना हो गयी। उसे और क्या कहूँ! सामान मौजूद, और चूल्हे में आग न जली।

आनन्दमोहन—खूब! यह एक ही रही। लकड़ियाँ न रही होंगी।

दयाशंकर—घर में तो लकड़ियों का पहाड़ लगा है। अभी थोड़े ही हुए, गाँव से एक गाड़ी लकड़ी आ गयी थी। दियासलाई न थी।

आनन्दमोहन—(अट्टहासकर) वाह! यह अच्छा प्रहसन हुआ। थो सी भूल ने सारा स्वप्न ही नष्ट कर दिया। कम-से-कम मेरी तो बधिया गयी।

दयाशंकर—क्या कहूँ मित्र, अत्यन्त लज्जित हूँ। तुमसे सत्य कहता है आज से मैं परदे का शत्रु हो गया। इस निगोड़ी प्रथा के बन्धन ने ठीक हो

के दिन ऐसा अनर्थ किया, जिसकी कभी सम्भावना न थी। अच्छा, अब बतलाओ बाजार से लाऊँ पूरियाँ। अभी तो ताजी मिल जायँगी।

आनन्दमोहन—बाजार का रास्ता तो मैंने भी देखा है। कष्ट न करो, जाकर बोर्डिंग-हाउस में खा लूँगा। रहे यह महाशय, मेरे विचार में तो इन्हें छेड़ना ठीक नहीं, पड़े-पड़े खर्राटे लेने दो। प्रातःकाल चौंकेंगे, तो घर का मार्ग पकड़ेंगे।

दयाशंकर—तुम्हारा यों वापस जाना मुझे खल रहा है। क्या सोचा था, क्या हुआ। मजे ले-लेकर समोसे और कोफते खाते, और गपड़चौथ मचाते। सभी आशाएँ मिट्टी में मिल गयीं। ईश्वर ने चाहा, तो शीघ्र इसका प्रायश्चित करूँगा।

आनन्दमोहन—मुझे तो इस बात की प्रसन्नता है कि तुम्हारा सिद्धान्त टूट गया। अब इतनी आज्ञा दो कि भाभीजी को धन्यवाद दे आऊँ।

दयाशंकर—शौक से जाओ।

आनन्दमोहन—(भीतर जाकर) भाभीजी को साष्टांग प्रणाम कर रहा हूँ। यद्यपि आज के आकाशी भोज से मुझे दुराशा तो अवश्य हुई; किन्तु वह उस आनन्द के सामने शून्य है, जो भाई साहब के विचार-परिवर्तन से हुआ है। आज एक दियासलाई ने जो शिक्षा प्रदान की है, वह लाखों प्रामाणिक प्रमाणों से भी सम्भव नहीं है। इसके लिए मैं आपको सहर्ष धन्यवाद देता हूँ। अब से बन्धुवर परदे के पक्षपाती न होंगे, यह मेरा अटल विश्वास है।

[पटाक्षेप]

गृह-दाह

सत्यप्रकाश के जन्मोत्सव में लाला देवप्रकाश ने बहुत रुपए खर्च किये थे। उसका विद्यारम्भ-संस्कार भी खूब धूम-धाम से किया गया। उसके हवा खाने को एक छोटी-सी गाड़ी थी। शाम को नौकर उसे टहलाने ले जाता। एक

नौकर उसे पाठशाला पहुँचाने जाता; दिन-भर वहीं बैठा रहता और उसे स
लेकर घर आता था। कितना सुशील, होनहार बालक था। गोरा मुख
बड़ी-बड़ी आँखें, ऊँचा मस्तक, पतले-पतले, लाल अधर, भरे हुए हाथ-पाँ
उसे देखकर सहसा मुँह से निकल पड़ता था—भगवान् इसे जिला दे, प्रत
मनुष्य होगा। उसकी बाल-बुद्धि की प्रखरता पर लोगों को आश्चर्य होता थ
नित्य उसके मुख-चन्द्र पर हँसी खेलती रहती थी। किसी ने उसे हठ करते
रोते नहीं देखा।

वर्षा के दिन थे। देवप्रकाश बहन को लेकर गंगा-स्नान करने गये। न
खूब चढ़ी थी, मानो अनाथ की आँखें हों। उनकी पत्नी निर्मला जल में बै
कर क्रीड़ा करने लगी। कभी आगे जाती, कभी पीछे जाती, कभी डुब
मारती, कभी अंजुलियों से छींटे उड़ाती। देवप्रकाश ने कहा—अच्छा, अ
निकलो, नहीं तो सरदी हो जायगी।

निर्मला ने कहा—कहो, तो मैं छाती तक पानी में चली जाऊँ?

देवप्रकाश—और, जो कहीं पैर फिसल जाय!

निर्मला—पैर क्या फिसलेगा!

यह कहकर छाती तक पानी में चली गयी। पति ने कहा—अच्छा, अ
आगे पैर न रखना। किन्तु निर्मला के सिर पर मौत खेल रही थी। वह जल
क्रीड़ा नहीं—मृत्यु-क्रीड़ा थी। उसने एक पग और आगे बढ़ाया, और फिस
गयी। मुँह से एक चीख निकली; दोनों हाथ सहारे के लिए ऊपर उठे, औ
फिर जल-मग्न हो गये; एक पल में प्यासी नदी उसे पी गयी। देवप्रकाश ख
तौलिये से देह पोंछ रहे थे। तुरन्त पानी में कूदे, साथ का कहार भी कूदा
दो मल्लाह भी कूद पड़े। सबने डुबकियाँ मारीं, टटोला; पर निर्मला का प
न चला। तब डोंगी मँगवायी गयी। मल्लाहों ने बार-बार गोते मारे;
लाश हाथ न आयी। देवप्रकाश शोक में डूबे हुए घर आये। सत्यप्रकाश कि
उपहार की आशा में दौड़ा। पिता ने गोद में उठा लिया, और बड़े यत्न कर
पर भी अपनी सिसकी न रोक सके। सत्यप्रकाश ने पूछा—अम्माँ कहाँ हैं

देवप्रकाश—बेटा, गंगा ने उन्हें नेवता खाने के लिए रोक लिया।

सत्यप्रकाश ने उनके मुख की ओर जिज्ञासा-भाव से देखा, और आश

मझ गया। 'अम्माँ-अम्माँ कहकर रोने लगा।'

(२)

मातृ-हीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है। दीन-से-दीन ाणियों को भी ईश्वर का आधार होता है, जो उनके हृदय को सँभालता हता है। मातृ-हीन बालक इस आधार से भी वंचित होता है। माता ही उसके ीवन का एकमात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंख-हीन पक्षी है।

सत्यप्रकाश को एकान्त से प्रेम हो गया। अकेले बैठा रहता। वृक्षों में उसे स सहानुभूति का कुछ-कुछ अज्ञात अनुभव होता था, जो घर के प्राणियों में से न मिलती थी। माता का प्रेम था, तो सभी प्रेम करते थे; माता का प्रेम ठ गया, तो सभी निष्ठुर हो गये। पिता की आँखों में भी वह प्रेम-ज्योति न हीं। दरिद्र को कौन भिक्षा देता है?

छः महीने बीत गये। सहसा एक दिन उसे मालूम हुआ, मेरी नयी माता ानेवाली है। दौड़ा पिता के पास गया, और पूछा—क्या मेरी नयी माता ायेंगी? पिता ने कहा—हाँ, बेटा, वह आकर तुम्हें प्यार करेंगी।

सत्यप्रकाश—क्या मेरी मा स्वर्ग से आ जायँगी?

देवप्रकाश—हाँ, वही आ जायँगी?

सत्यप्रकाश—मुझे उसी तरह प्यार करेंगी?

देवप्रकाश इसका क्या उत्तर देते? मगर सत्यप्रकाश उस दिन से प्रसन्न-न रहने लगा। अम्माँ आयेंगी! मुझे गोद में लेकर प्यार करेंगी! अब मैं न्हें कभी दिक न करूँगा, कभी ज़िद न करूँगा, अच्छी-अच्छी कहानियाँ नाया करूँगा।

विवाह के दिन आये। घर में तैयारियाँ होने लगीं। सत्यप्रकाश खुशी से ला न समाता। मेरी नयी अम्माँ आयेंगी। बरात में वह भी गया। नये-नये ड़े मिले। पालकी पर बैठा। नानी ने अन्दर बुलाया, और उसे गोद में कर एक अशरफ़ी दी। वहीं उसे नयी माता के दर्शन हुए। नानी ने नयी ता से कहा—बेटी, कैसा सुन्दर बालक है! इसे प्यार करना!

सत्यप्रकाश ने नयी माता को देखा, और मुग्ध हो गया। बच्चे भी रूप के ासक होते हैं। एक लावण्यमयी मूर्ति आभूषणों से लदी सामने खड़ी थी।

उसने दोनों हाथों से उसका अंचल पकड़कर कहा—अम्माँ !

कितना अरुचिकर शब्द था, कितना लज्जायुक्त, कितना अप्रिय ! ललना, जो 'देवप्रिया' नाम से सम्बोधित होती थी, उत्तरदायित्व, त्याग अ क्षमा का सम्बोधन न सह सकी। अभी वह प्रेम और विलास का सुख-स्व देख रही थी—यौवन-काल की मदमय वायु-तरंगों में आन्दोलित हो रही थ इस शब्द ने उसके स्वप्न को भंग कर दिया। कुछ रुष्ट होकर बोली—मु अम्माँ मत कहो।

सत्यप्रकाश ने विस्मित नेत्रों से देखा। उसका बाल-स्वप्न भंग हो गय आँखें डबडबा गयीं। नानी ने कहा—बेटी, देखो, लड़के का दिल छोटा गया। वह क्या जाने, क्या कहना चाहिए। अम्माँ कह दिया, तो तुम्हें कौ सी चोट आ गयी।

देवप्रिया ने कहा—मुझे अम्माँ न कहे।

(३)

सौत का पुत्र विमाता की आँखों में क्यों इतना खटकता है, इसका निर्ण आज तक किसी मनोभाव के पण्डित ने नहीं किया। हम किस गिनती में देवप्रिया जब तक गर्भिणी न हुई, वह सत्यप्रकाश से कभी-कभी बातें कर कहानियाँ सुनती; किन्तु गर्भिणी होते ही उसका व्यवहार कठोर हो गय प्रसव-काल ज्यों-ज्यों निकट आता था, उसकी कठोरता बढ़ती ही जाती थ जिस दिन उसकी गोद में एक चाँद-से बच्चे का आगमन हुआ, सत्यप्रक खूब उछला-कूदा, और सौर-गृह में दौड़ा हुआ बच्चे को देखने गया। बच देवप्रिया की गोद में सो रहा था। सत्यप्रकाश ने बड़ी उत्सुकता से बच्चे विमाता की गोद से उठाना चाहा कि सहसा देवप्रिया ने सरोष स्वर में कहा खबरदार, इसे मत छूना नहीं तो कान पकड़कर उखाड़ लूँगी।

बालक उलटे पाँव लौट आया, और कोठे की छत पर जाकर खूब रोय कितना सुन्दर बच्चा है ! मैं उसे गोद में लेकर बैठता, तो कैसा मजा आत मैं उसे गिराता थोड़े ही, फिर इन्होंने मुझे झिड़क क्यों दिया ! भोला बाल क्या जानता था कि इस झिड़की का कारण माता की सावधानी नहीं, और है।

शिशु का नाम ज्ञानप्रकाश रखा गया था। एक दिन वह सो रहा था। देवप्रिया स्नानागार में थी। सत्यप्रकाश चुपके-से आया, और बच्चे का ओढ़ना हटाकर उसे अनुरागमय नेत्रों से देखने लगा। उसका जी कितना चाहा कि उसे गोद में लेकर प्यार करूँ; पर डर के मारे उसने उसे उठाया नहीं, केवल कपोलों को चूमने लगा। इतने में देवप्रिया निकल आयी। सत्यप्रकाश को बच्चे को चूमते देखकर आग हो गयी। दूर ही से डाँटा—हट जा वहाँ से।

सत्यप्रकाश दीन नेत्रों से माता को देखता हुआ बाहर निकल आया।

सन्ध्या-समय उसके पिता ने पूछा—तुम लल्ला को क्यों रुलाया करते हो!

सत्यप्रकाश—मैं तो उसे कभी नहीं रुलाता। अम्माँ खेलाने नहीं देतीं।

देवप्रकाश—झूठ बोलते हो, आज तुमने बच्चे को बटकी काटी

सत्यप्रकाश—जी नहीं, मैं तो उसकी मुच्छियाँ ले रहा था।

देवप्रकाश—झूठ बोलता है!

सत्यप्रकाश—मैं झूठ नहीं बोलता।

देवप्रकाश को क्रोध आ गया। लड़के को दो-तीन तमाचे लगाये। पहली बार यह ताड़ना मिली, और निरपराध! इसने उसके जीवन की काया-पलट कर दी।

(४)

उस दिन से सत्यप्रकाश के स्वभाव में एक परिवर्तन दिखायी देने लगा। वह घर में बहुत कम आता। पिता आते, तो उनसे मुँह छिपाता फिरता। कोई खाना खाने को बुलाने आता, तो चोरों की भाँति दबकता हुआ जाकर खा लेता; न कुछ माँगता, न कुछ बोलता। पहले अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि था। उसकी सफाई, सलीके और फुरती पर लोग मुग्ध हो जाते थे। अब वह पढ़ने से जी चुराता, मैले-कुचैले कपड़े पहने रहता। घर में कोई प्रेम करनेवाला न था! बाजार के लड़कों के साथ गली-गली घूमता, कनकौवे लूटता! गालियाँ बकना भी सीख गया। शरीर दुर्बल हो गया। चेहरे की कान्ति गायब हो गयी। देवप्रकाश को अब आये दिन उसकी शरारतों के उलहने मिलने लगे, और सत्यप्रकाश नित्य घुड़कियाँ और तमाचे खाने लगा, यहाँ तक कि अगर वह कभी घर में किसी काम से चला जाता, तो सब लोग दूर-दूर कहकर

दौड़ते ।

ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिए मास्टर आता था। देवप्रकाश उसे रो सैर कराने साथ ले जाते। हँसमुख लड़का था। देवप्रिया उसे सत्यप्रकाश साए से बचाती रहती थी। दोनो लड़कों में कितना अन्तर था! एक साफ-सुथर सुन्दर कपड़े पहने, शील और विनय का पुतला, सच बोलनेवाला, देख वालों के मुँह से अनायास ही दुआ निकल आती थी। दूसरा मैला, नटख चोरों की तरह मुँह छिपाये हुए, मुँहफट, बात-बात पर गालियाँ बकनेवाला एक हरा-भरा पौधा, प्रेम में प्लावित, स्नेह से सिंचित, दूसरा सूखा हुअ टेढ़ा, पल्लव-हीन नववृक्ष, जिसकी जड़ों को एक मुद्दत में पानी नहीं नसी हुआ। एक को देखकर पिता की छाती ठण्डी होती; दूसरे को देखकर देह आग लग जाती!

आश्चर्य यह था कि सत्यप्रकाश को अपने छोटे भाई से लेशमात्र भी ईर्ष न थी। अगर उसके हृदय में कोई कोमल भाव शेष रह गया था, तो वह ज्ञा प्रकाश के प्रति स्नेह था। उस मरुभूमि में यही हरियाली थी। ईर्ष्या सा भाव की द्योतक है। सत्यप्रकाश अपने भाई को अपने से कहीं ऊँचा, क भाग्यशाली समझता। उसमें ईर्ष्या का भाव ही लोप हो गया था।

घृणा से घृणा उत्पन्न होती है, प्रेम से प्रेम। ज्ञानप्रकाश भी बड़े भाई चाहता था। कभी-कभी उसका पक्ष लेकर अपनी मा से वाद-विवाद कर बैठता कहता, भैया की अचकन फट गयी है, आप नयी अचकन क्यों नहीं बन देतीं? मा उत्तर देती—उसके लिए वही अचकन अच्छी है। अभी क्या, अ तो वह नंगा घूमेगा। ज्ञानप्रकाश बहुत चाहता था कि अपने जेब-खर्च से बच कर कुछ अपने भाई को दे, पर सत्यप्रकाश कभी इसे स्वीकार न करता वास्तव में जितनी देर वह छोटे भाई के साथ रहता, उतनी देर उसे ए शान्तिमय आनन्द का अनुभव होता। थोड़ी देर के लिए वह सद्भावों साम्राज्य में विचरने लगता। उसके मुख से कोई भद्दी और अप्रिय बात निकलती। एक क्षण के लिए उसकी सोयी हुई आत्मा जाग उठती।

एक बार कई दिन तक सत्यप्रकाश मदरसे न गया। पिता ने पूछा—तु आजकल पढ़ने क्यों नहीं जाते? क्या सोच रखा है कि मैंने तुम्हारी जिन्दग

र का ठेका ले रखा है ?

सत्यप्रकाश—मेरे ऊपर जुर्माने और फीस के कई रुपए हो गये हैं। जाता , तो दरजे से निकाल दिया जाता हूँ।

देवप्रकाश—फीस क्यों बाकी है ? तुम तो महीने-महीने ले लिया करते । न ?

सत्यप्रकाश—आये दिन चन्दे लगा करते हैं। फीस के रुपए चन्दे में दे द्ये।

देवप्रकाश—और जुर्माना क्यों हुआ ?

सत्यप्रकाश—फीस न देने के कारण।

देवप्रकाश—तुमने चन्दा क्यों दिया ?

सत्यप्रकाश—ज्ञानू ने चन्दा दिया, तो मैंने भी दिया।

देवप्रकाश—तुम ज्ञानू से जलते हो ?

सत्यप्रकाश—मैं ज्ञानू से क्यों जलने लगा। यहाँ हम और वह दो हैं, ाहर हम और वह एक समझे जाते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि मेरे स कुछ नहीं है।

देवप्रकाश—क्यों, यह कहते शर्म आती है ?

सत्यप्रकाश—जी हाँ, आपकी बदनामी होगी।

देवप्रकाश—अच्छा, तो आप मेरी मान-रक्षा करते हैं ! यह क्यों नहीं हते कि पढ़ना अब मंजूर नहीं। मेरे पास इतना रुपिया नहीं कि तुम्हें एक-क क्लास में तीन-तीन साल पढ़ाऊँ, ऊपर से तुम्हारे खर्च के लिए भी प्रति-ास कुछ दूँ। ज्ञानू तुमसे कितना छोटा है, लेकिन तुमसे एक ही दफा नीचे । तुम इस साल जरूर ही फेल होओगे; वह जरूर ही पास होगा। अगले ाल तुम्हारे साथ हो जायेगा। तब तो तुम्हारे मुँह में कालिख लगेगी न ?

सत्यप्रकाश—विद्या मेरे भाग्य ही में नहीं है।

देवप्रकाश—तुम्हारे भाग्य में क्या है ?

सत्यप्रकाश—भीख माँगना।

देवप्रकाश—तो फिर भीख ही माँगो। मेरे घर से निकल जाओ !

देवप्रिया भी आ गयी। बोली—शरमाता तो नहीं, और बातों का जवाब

देता है।

सत्यप्रकाश—जिनके भाग्य में भीख माँगना होता है, वे ही बचपन में अनाथ हो जाते हैं।

देवप्रिया—ये जली-कटी बातें अब मुझसे न सही जायँगी। मैं खून का घूँट पी-पीकर रह जाती हूँ।

देवप्रकाश—बेहया है। कल से इसका नाम कटवा दूँगा। भीख माँगनी है, तो भीख ही माँगो।

(५)

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने घर से निकलने की तैयारी कर दी। उसकी उम्र अब १६ साल की हो गयी थी। इतनी बातें सुनने के बाद उसे उस घर में रहना असह्य हो गया था। जब तक हाथ-पाँव न थे, किशोरावस्था की असमर्थता थी, तब तक अवहेलना, निरादर, निठुरता, भर्त्सना सब कुछ सहकर घर में रहता रहा। अब हाथ-पाँव हो गये थे, उस बन्धन में क्यों रहता! आत्माभिमान आशा की भाँति चिरजीवी होता है।

गर्मी के दिन थे। दोपहर का समय। घर के सब प्राणी सो रहे थे। सत्यप्रकाश ने अपनी धोती बगल में दबायी; एक छोटा-सा बैग हाथ में लिया, और चाहता था कि चुपके-से बैठक से निकल जाय कि ज्ञानू आ गया, और उसे जाने को तैयार देखकर बोला—कहाँ जाते हो भैया!

सत्यप्रकाश—जाता हूँ, कहीं नौकरी करूँगा।

ज्ञानप्रकाश—मैं जाकर अम्माँ से कहे देता हूँ।

सत्यप्रकाश—तो फिर मैं तुमसे भी छिपाकर चला जाऊँगा।

ज्ञानप्रकाश—क्यों चले जाओगे? तुम्हें मेरी जरा भी मुहब्बत नहीं?

सत्यप्रकाश ने भाई को गले लगाकर कहा—तुम्हें छोड़कर जाने को जी तो नहीं चाहता, लेकिन जहाँ कोई पूछनेवाला नहीं, वहाँ पड़े रहना बेहयाई है। कहीं दस-पाँच की नौकरी कर लूँगा, और पेट पालता रहूँगा, और किस लायक हूँ?

ज्ञानप्रकाश—तुमसे अम्माँ क्यों इतना चिढ़ती हैं? मुझे तुमसे मिलने को मना किया करती हैं।

सत्यप्रकाश—मेरे नसीब खोटे हैं, और क्या।

ज्ञानप्रकाश—तुम लिखने-पढ़ने में जी क्यों नहीं लगाते?

सत्यप्रकाश—लगता ही नहीं, कैसे लगाऊँ! जब कोई परवा नहीं करता तो मैं भी सोचता हूँ—ऊँह, यही न होगा, ठोकर खाऊँगा। बला से!

ज्ञानप्रकाश—मुझे भूल तो न जाओगे? मैं तुम्हारे पास खत लिखा करूँगा। मुझे भी एक बार अपने यहाँ बुलाना।

सत्यप्रकाश—तुम्हारे स्कूल के पते से चिट्ठी लिखूँगा।

ज्ञानप्रकाश—(रोते-रोते) मुझे न-जाने क्यों तुम्हारी बड़ी मुहब्बत लगती है।

सत्यप्रकाश—मैं तुम्हें सदैव याद रखूँगा।

यह कहकर उसने फिर भाई को गले से लगाया, और घर से निकल पड़ा। पास एक कौड़ी भी न थी, और वह कलकत्ते जा रहा था।

(६)

सत्यप्रकाश कलकत्ते क्योंकर पहुँचा, इसका वृत्तान्त लिखना व्यर्थ है। युवकों में दुस्साहस की मात्रा अधिक होती है। वे हवा के किले बना सकते हैं—धरती पर नाव चला सकते हैं। कठिनाइयों की उन्हें कुछ परवा नहीं होती। अपने ऊपर असीम विश्वास होता है। कलकत्ते पहुँचना ऐसा कष्ट-साध्य न था। सत्यप्रकाश चतुर युवक था। पहले ही निश्चय कर लिया था कि कलकत्ते में क्या करूँगा, कहाँ रहूँगा। उसके बैग में लिखने की सामग्री मौजूद थी। बड़े शहरों में जीविका का प्रश्न कठिन भी है, और सरल भी। सरल है उनके लिए, जो हाथ से काम कर सकते हैं; कठिन है उनके लिए, जो कलम से काम करते हैं। सत्यप्रकाश मजदूरी करना नीच समझता था। उसने एक धर्मशाला में असबाब रखा। बाद में शहर के मुख्य-मुख्य स्थानों का निरीक्षण कर एक डाक घर के सामने लिखने का सामान लेकर बैठ गया, और अपढ़ मजदूरों की चिट्ठियाँ, मनी-आर्डर आदि लिखने का व्यवसाय करने लगा। पहले कई दिन तो उसको इतने पैसे भी न मिले कि भरपेट भोजन करता, लेकिन धीरे-धीरे आमदनी बढ़ने लगी। वह मजदूरों से इतने विनय के साथ बातें करता, और उनके समाचार इतने विस्तार से लिखता कि बस,

वे पत्र को सुनकर बहुत प्रसन्न होते। अशिक्षित लोग एक ही बात को दो-दो तीन-तीन बार लिखाते हैं। उनकी दशा ठीक रोगियों की-सी होती है, जो वैद्य से अपनी व्यथा और वेदना का वृत्तान्त कहते नहीं थकते। सत्यप्रकाश सूत्र को व्याख्या का रूप देकर मजदूरों को मुग्ध कर देता था। एक संतुष्ट होकर जाता, तो अपने कई अन्य भाइयों को खोज लाता। एक ही महीने में उसे १) रोज मिलने लगा। उसने धर्मशाला से निकलकर शहर से बाहर ५) महीने पर एक छोटी-सी कोठरी ले ली। एक जून बनाता, दोनो जून खाता। बरतन अपने हाथों धोता। जमीन पर सोता। उसे अपने निर्वासन पर जरा भी खेद और दुःख न था। घर के लोगों की कभी याद न आती। वह अपनी दशा पर सन्तुष्ट था। केवल ज्ञानप्रकाश की प्रेमयुक्त बातें न भूलतीं। अन्धकार में यही एक प्रकाश था। बिदाई का अन्तिम दृश्य आँखों के सामने फिरा करता। जीविका से निश्चिन्त होकर उसने ज्ञानप्रकाश को एक पत्र लिखा। उत्तर आया। उसके आनन्द की सीमा न रही। ज्ञानू मुझे याद करके रोता है, मेरे पास आना चाहता है, स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं है। प्यासे को पानी से जो तृप्ति होती है, वही तृप्ति इस पत्र से सत्यप्रकाश को हुई। मैं अकेला नहीं हूँ, कोई मुझे भी चाहता है—मुझे भी याद करता है।

उस दिन से सत्यप्रकाश को यह चिन्ता हुई कि ज्ञानू के लिए कोई उपहार भेजूँ। युवकों को मित्र बहुत जल्द मिल जाते हैं। सत्यप्रकाश की भी कई युवकों से मित्रता हो गयी थी। उनके साथ कई बार सिनेमा देखने गया। कई बार बूटी-भंग, शराब-कबाब की भी ठहरी। आईना, तेल, कंघी का शौक भी पैदा हुआ, जो कुछ पाता, उड़ा देता, बड़े वेग से नैतिक पतन और शारीरिक विनाश की ओर दौड़ा चला जाता था; इस प्रेम-पत्र ने उसके पैर पकड़ लिये। उपहार के प्रयास ने इन दुर्व्यसनों को तिरोहित करना शुरू किया। सिनेमा का चसका छूटा, मित्रों को हीले-हवाले करके टालने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा करने लगा। धन-संचय की चिन्ता ने सारी इच्छाओं को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया कि एक अच्छी सी घड़ी भेजूँ। उसका दाम कम-से-कम ४०) होगा। अगर तीन महीने तक एक कौड़ी का अपव्यय न करूँ, तो घड़ी मिल सकती है। ज्ञानू घड़ी देखकर कैसा खुश होगा। अम्माँ और बाबूजी भी

देखेंगे। उन्हें मालूम हो जायगा कि मैं भूखों नहीं मर रहा हूँ। किफायत की धुन में वह बहुधा दिया-बत्ती भी न करता। बड़े सवेरे काम करने चला जाता, और सारे दिन दो-चार पैसे की मिठाई खाकर काम करता रहता। उसके ग्राहकों की संख्या दिन-दूनी होती जाती थी। चिट्ठी-पत्री के अतिरिक्त अब उसने तार लिखने का भी अभ्यास कर लिया था। दो ही महीनों में उसके पास ५०) एकत्र हो गये; और जब घड़ी के साथ सुनहरी चेन का पारसल बनाकर ज्ञानू के नाम भेज दिया, तो उसका चित्त इतना उत्साहित था, मानो किसी निस्संतान के बालक हुआ हो।

(७)

'घर' कितनी ही कोमल, पवित्र, मनोहर स्मृतियों को जाग्रत कर देता है। यह प्रेम का निवास-स्थान है। प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह बरदान पाया है।

किशोरावस्था में 'घर, माता-पिता, भाई-बहन, सखी-सहेली के प्रेम की याद दिलाता है, प्रौढ़ावस्था में गृहिणी और बाल बच्चों के प्रेम की यही वह लहर है, जो मानव जीवन-मात्र को स्थिर रखती है, उसे समुद्र की वेगवती लहरों में बहने और चट्टानों से टकराने से बचाती है। यही वह मंडप है, जो जीवन को समस्त विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित रखता है।

सत्यप्रकाश का 'घर' कहाँ था? वह कौन सी शक्ति थी, जो कलकत्ते के विराट् प्रलोभनों से उसकी रक्षा करती थी?—माता का प्रेम, पिता का स्नेह, बालबच्चों की चिन्ता?—नहीं, उसका रक्षक, उद्धारक, उसका परिपोषक केवल ज्ञानप्रकाश का स्नेह था। उसी के निमित्त वह एक-एक पैसे की किफायत करता। उसी के लिए वह कठिन परिश्रम करता—धनोपार्जन के नये-नये उपाय सोचता। उसे ज्ञानप्रकाश के पत्रों से मालूम हुआ था कि इन दिनों देवप्रकाश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। वह एक घर बनवा रहे हैं, जिसमें व्यय अनुमान से अधिक हो जाने के कारण ऋण लेना पड़ा है; इसी लिए अब ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिए घर पर मास्टर नहीं आता। तब से सत्यप्रकाश प्रतिमास ज्ञानू के पास कुछ-न-कुछ अवश्य भेज देता था। वह अब केवल पत्र-लेखक न था, लिखने के सामान की एक छोटी-सी दूकान भी उसने खोल ली है। इससे अच्छी आमदनी हो जाती थी। इस तरह पाँच वर्ष बीत गये।

रसिक मित्रों ने जब देखा कि अब यह हत्थे नहीं चढ़ता, तो उसके पास आना-जाना छोड़ दिया।

(८)

सन्ध्या का समय था। देवप्रकाश अपने मकान में बैठे देवप्रिया से ज्ञानप्रकाश के विवाह के सम्बन्ध में बातें कर रहे थे। ज्ञानू अब १७ वर्ष का सुन्दर युवक था। बाल-विवाह के विरोधी होने पर भी देवप्रकाश अब इस शुभ-मुहूर्त्त को न टाल सकते थे। विशेषतः जब कोई महाशय ५,०००) दायज देने को प्रस्तुत हों।

देवप्रकाश—मैं तो तैयार हूँ, लेकिन तुम्हारा लड़का भी तो तैयार हो।

देवप्रिया—तुम बातचीत पक्की कर लो, वह तैयार हो ही जायगा। सभी लड़के पहले 'नहीं' करते हैं।

देवप्रकाश—ज्ञानू का इनकार केवल संकोच का इनकार नहीं है, वह सिद्धान्त का इनकार है। वह साफ साफ कह रहा है कि जब तक भैया का विवाह न होगा, मैं अपना विवाह करने पर राजी नहीं हूँ।

देवप्रिया—उसकी कौन चलाये, वहाँ कोई रखैल रख ली होगी, विवाह क्यों करेगा? वहाँ कोई देखने जाता है?

देवप्रकाश—(झुँझलाकर) रखैल रख ली होती, तो तुम्हारे लड़के को ४०) महीने न भेजता, और न वे चीजें ही देता, जिन्हें पहले महीने से अब तक बराबर देता चला आता है। न-जाने क्यों तुम्हारा मन उसकी ओर से इतना मैला हो गया है। चाहे वह जान निकालकर भी दे दे, लेकिन तुम न पसीजोगी।

देवप्रिया नाराज होकर चली गयी। देवप्रकाश उससे यही कहलाना चाहते थे कि पहले सत्यप्रकाश का विवाह करना उचित है, किन्तु वह कभी इस प्रसंग को आने ही न देती थी। स्वयं देवप्रकाश की यह हार्दिक इच्छा थी कि पहले बड़े लड़के का विवाह करें, पर उन्होंने भी आज तक सत्यप्रकाश को कोई पत्र न लिखा था। देवप्रिया के चले जाने के बाद उन्होंने आज पहली बार सत्यप्रकाश को पत्र लिखा। पहले इतने दिनों तक चुपचाप रहने के लिए क्षमा माँगी, तब उसे एक बार घर आने का प्रेमाग्रह किया। लिखा,

अब मैं कुछ ही दिनों का मेहमान हूँ। मेरी अभिलाषा है कि तुम्हारा और तुम्हारे छोटे भाई का विवाह देख लूँ। मुझे बहुत दुःख होगा, यदि तुम यह विनय स्वीकार न करोगे। ज्ञानप्रकाश के असमंजस की बात भी लिखी। अन्त में इस बात पर जोर दिया कि किसी और विचार से नहीं, तो ज्ञानू के प्रेम के नाते ही तुम्हें इस बन्धन में पड़ना होगा।

सत्यप्रकाश को यह पत्र मिला, तो उसे बहुत खेद हुआ। मेरे भ्रातृस्नेह का यह परिणाम होगा, मुझे यह न मालूम था। इसके साथ ही उसे ईर्ष्यामय आनन्द हुआ कि अम्माँ और दादा को अब तो कुछ मानसिक पीड़ा होगी। मेरी उन्हें क्या चिन्ता थी? मैं मर भी जाऊँ, तो भी उनकी आँखों में आँसू न आयें। सात वर्ष हो गये, कभी भूलकर भी पत्र न लिखा कि मरा है, या जीता है। अब कुछ चेतावनी मिलेगी। ज्ञानप्रकाश अन्त में विवाह करने पर राजी तो हो ही जायगा, लेकिन सहज में नहीं। कुछ न हो, तो मुझे तो एक बार अपने इनकार के कारण लिखने का अवसर मिला। ज्ञानू को मुझसे प्रेम है, लेकिन उसके कारण मैं पारिवारिक अन्याय का दोषी न बनूँगा। हमारा पारिवारिक जीवन संपूर्णतः अन्यायमय है। यह कुमति और वैमनस्य, क्रूरता और नृशंसता का बीजारोपण करता है। इसी माया में फँसकर मनुष्य अपनी प्यारी सन्तान का शत्रु हो जाता है। न, मैं आँखों देखकर यह मक्खी न निगलूँगा। मैं ज्ञानू को समझाऊँगा अवश्य। मेरे पास जो कुछ जमा है, वह सब उसके विवाह के निमित्त अर्पण भी कर दूँगा। बस, इससे ज्यादा मैं और कुछ नहीं कर सकता। अगर ज्ञानू भी अविवाहित ही रहे, तो संसार कौन सूना हो जायगा? ऐसे पिता का पुत्र क्या वंश-परम्परा का पालन न करेगा? क्या उसके जीवन में फिर वही अभिनय न दुहराया जायगा, जिसने मेरा सर्वनाश कर दिया?

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने ५००) पिता के पास भेजे, और पत्र का उत्तर लिखा कि मेरा अहोभाग्य, आपने मुझे याद किया। ज्ञानू का विवाह निश्चित हो गया, इसकी बधाई! इन रुपयों से नववधू के लिए कोई आभूषण बनवा दीजिएगा। रही मेरे विवाह की बात, सो मैंने अपनी आँखों से जो कुछ देखा, और मेरे सिर पर जो कुछ बीती है, उस पर ध्यान देते हुए यदि मैं कुटुम्ब-

पाश में फँसूँ, तो मुझसे बड़ा उल्लू संसार में न होगा। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे। विवाह की चर्चा ही से मेरे हृदय को आघात पहुँचता है।

दूसरा पत्र ज्ञानप्रकाश को लिखा कि माता-पिता की आज्ञा शिरोधार्य करो। मैं अपढ़, मूर्ख, बुद्धिहीन आदमी हूँ; मुझे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं। मैं तुम्हारे विवाह के शुभोत्सव में सम्मिलित न हो सकूँगा, लेकिन मेरे लिए इससे बढ़कर आनन्द और सन्तोष का विषय नहीं हो सकता।

(६)

देवप्रकाश यह पढ़कर अवाक् रह गये। फिर आग्रह करने का साहस न हुआ। देवप्रिया ने नाक सिकोड़कर कहा—यह लौंडा देखने ही को सीधा है, है जहर का बुझाया हुआ! सौ कोस पर बैठा हुआ बरछियों से कैसा छेद रहा है!

किन्तु ज्ञानप्रकाश ने यह पत्र पढ़ा, तो उसे मर्माघात पहुँचा। दादा और अम्माँ के अन्याय ने ही उन्हें यह भीषण व्रत धारण करने पर बाध्य किया है। इन्हीं ने उन्हें निर्वासित किया है, और शायद सदा के लिए। न-जाने अम्माँ को उनसे क्यों इतनी जलन हुई। मुझे तो अब याद आता है कि किशोरावस्था ही से वह बड़े आज्ञाकारी, विनयशील और गम्भीर थे। उन्हें अम्माँ की बातों का जवाब देते नहीं सुना। मैं अच्छे-से-अच्छा खाता था, फिर भी उनके तेवर मैले न हुए, हालाँकि उन्हें जलना चाहिए था। ऐसी दशा में अगर उन्हें गार्हस्थ्य-जीवन से घृणा हो गयी, तो आश्चर्य ही क्या? फिर, मैं ही क्यों इस विपत्ति में फँसूँ? कौन जाने, मुझे भी ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़े। भैया ने बहुत सोच-समझकर यह धारणा की है।

सन्ध्या-समय जब उसके माता-पिता बैठे हुए इसी समस्या पर विचार कर रहे थे, ज्ञानप्रकाश ने आकर कहा—मैं कल भैया से मिलने जाऊँगा।

देवप्रिया—क्या कलकत्ते जाओगे?

ज्ञानप्रकाश—जी, हाँ।

देवप्रिया—उन्हीं को क्यों नहीं बुलाते?

ज्ञानप्रकाश—उन्हें कौन मुँह लेकर बुलाऊँ! आप लोगों ने तो पहले ही मेरे मुँह में कालिख लगा दी है। ऐसा देव-पुरुष आप लोगों के कारण

विदेश में ठोकर खा रहा है, और मैं इतना निर्लज्ज हो जाऊँ कि....

देवप्रिया—अच्छा चुप रह, नहीं ब्याह करना है, न कर, जले पर लोन मत छिड़क ! माता-पिता का धर्म है, इसी लिए कहती हूँ, नहीं तो यहाँ ठेंगे को परवा नहीं है। तू चाहे ब्याह कर, चाहे क्वाँरा रह; पर मेरी आँखों से दूर हो जा।

ज्ञानप्रकाश—क्या मेरी सूरत से भी घृणा हो गयी ?

देवप्रिया—जब तू हमारे कहने ही में नहीं, तो जहाँ चाहे, रह। हम भी समझ लेंगे, भगवान ने लड़का ही नहीं दिया।

देवप्रकाश—क्यों व्यर्थ ऐसे कटु वचन बोलती हो ?

ज्ञानप्रकाश—अगर आप लोगों की यही इच्छा है, तो यही होगा।

देवप्रकाश ने देखा कि बात का बतंगड़ हुआ चाहता है, तो ज्ञानप्रकाश को इशारे से टाल दिया, पत्नी के क्रोध को शान्त करने की चेष्टा करने लगे। मगर देवप्रिया फूट-फूटकर रो रही थी, बार-बार कहती थी—मैं इसकी सूरत न देखूँगी। अन्त में देवप्रकाश ने चिढ़कर कहा—तो तुम्हीं ने कटु वचन कहकर उसे उत्तेजित कर दिया।

देवप्रिया—यह सब विष उसी चांडाल ने बोया है, जो यहाँ से सात समुद्र-पार बैठा हुआ मुझे मिट्टी में मिलाने का उपाय कर रहा है। मेरे बेटे को मुझसे छीनने के लिए उसने यह प्रेम का स्वाँग भरा है। मैं उसकी नस-नस पहचानती हूँ। उसका यह मन्त्र मेरी जान लेकर छोड़ेगा; नहीं तो मेरा ज्ञानू, जिसने कभी मेरी बात का जवाब नहीं दिया, यों मुझे न जलाता।

देवप्रकाश—अरे, तो क्या वह विवाह ही न करेगा। अभी गुस्से में अनाप-शनाप बक गया है। जरा शान्त हो जायगा, तो मैं समझाकर राजी कर दूँगा।

देवप्रिया—मेरे हाथ से निकल गया।

देवप्रिया की आशंका सत्य निकली। देवप्रकाश ने बेटे को बहुत समझाया। कहा—तुम्हारी माता इस शोक में मर जायगी; किन्तु कुछ असर न हुआ। उसने एक बार 'नहीं' कहकर 'हाँ' नहीं की। निदान पिता भी निराश होकर बैठ रहे।

तीन साल तक प्रतिवर्ष विवाह के दिनों में यह प्रश्न उठता रहा, पर ज्ञान-

प्रकाश अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। माता का रोना-धोना निष्फल हुआ। हाँ, उसने माता की एक बात मान ली—वह भाई से मिलने कलकत्ते न गया।

तीन साल में घर में बड़ा परिवर्तन हो गया। देवप्रिया की तीनों कन्याओं का विवाह हो गया। अब घर में उसके सिवा कोई स्त्री न थी। सूना घर उसे खाये लेता था। जब वह नैराश्य और क्रोध से व्याकुल हो जाती, तो सत्यप्रकाश को खूब जी-भर कोसती; मगर दोनो भाइयों में प्रेम-पत्र-व्यवहार होता रहता था।

देवप्रकाश के भाव में एक विचित्र उदासीनता प्रकट होने लगी। उन्होंने पेन्शन ले ली थी, और प्रायः धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया करते थे। ज्ञानप्रकाश ने भी 'आचार्य' की उपाधि प्राप्त कर ली थी, और एक विद्यालय में अध्यापक हो गये थे। देवप्रिया अब संसार में अकेली थी।

देवप्रिया अपने पुत्र को गृहस्थी की ओर खींचने के लिए नित्य टोने-टोटके किया करती। बिरादरी में कौन-सी कन्या सुन्दर है, गुणवती है, सुशिक्षिता है—उसका बखान किया करती, पर ज्ञानप्रकाश को इन बातों के सुनने की भी फ़ुरसत न थी।

मोहल्ले के और घरों में नित्य ही विवाह होते रहते थे। बहुएँ आती थीं, उनकी गोद में बच्चे खेलने लगते थे, घर गुलजार हो जाता था। कहीं बिदाई होती थी, कहीं बधाइयाँ आती थीं, कहीं गाना-बजाना होता था, कहीं बाजे बजते थे। यह चहल-पहल देखकर देवप्रिया का चित्त चंचल हो जाता। उसे मालूम होता, मैं हो संसार में सबसे अभागिनी हूँ। मेरे ही भाग्य में यह सुख भोगना नहीं बदा है। भगवान् ऐसा भी कोई दिन आयेगा कि मैं अपनी बहू का मुख-चन्द्र देखूँगी, बालकों को गोद में खिलाऊँगी। वह भी कोई दिन होगा कि मेरे घर में भी आनन्दोत्सव के मधुर गान की तानें उठेंगी! रात-दिन ये ही बातें सोचते-सोचते देवप्रिया की दशा उन्मादिनी की-सी हो गयी। आप-ही-आप सत्यप्रकाश को कोसने लगती—वही मेरे प्राणों का घातक है। तल्लीनता उन्माद का प्रधान गुण है। तल्लीनता अत्यन्त रचनाशील होती है। वह आकाश में देवताओं के विमान उड़ाने लगती है। अगर भोजन में नमक तेज हो गया, तो यह शत्रु ने कोई रोड़ा रख दिया होगा। देवप्रिया को अब कभी-कभी धोखा हो जाता कि सत्यप्रकाश घर में आ गया है, वह मुझे मारना चाहता है, ज्ञानप्रकाश

को विष खिलाये देता है। एक दिन उसने सत्यप्रकाश के नाम एक पत्र लिखा और उसमें जितना कोसते बना, कोसा—तू मेरे प्राणों का वैरी है, मेरे कुल का घातक है, हत्यारा है। वह कौन दिन आयेगा कि तेरी मिट्टी उठेगी। तूने मेरे लड़के पर वशीकरण-मन्त्र चला दिया है। दूसरे दिन फिर ऐसा ही पत्र लिखा, यहाँ तक कि वह उसका नित्य-कर्म हो गया। जब तक एक चिट्ठी में सत्यप्रकाश को गालियाँ न दे लेती उसे चैन ही न आता! इन पत्रों को वह कहारिन के हाथ डाक-घर भिजवा दिया करती थी।

(१०)

ज्ञानप्रकाश का अध्यापक होना सत्यप्रकाश के लिए घातक हो गया। परदेश में उसे यही सन्तोष था कि मैं संसार में निराधार नहीं हूँ। अब यह अवलम्ब भी जाता रहा। ज्ञानप्रकाश ने जोर देकर लिखा—अब आप मेरे हेतु कोई कष्ट न उठाये मुझे गुजर करने के लिए काफी से ज्यादा मिलने लगा है।

यद्यपि सत्यप्रकाश की दूकान खूब चलती थी, लेकिन कलकत्ते जैसे शहर में एक छोटे-से दूकानदार का जीवनबहुत सुखी नहीं होता। ६०)-७०) की मासिक आमदनी होती ही क्या है? अब तक वह जो कुछ बचाता था, वह वास्तव में बचत न थी, बल्कि त्याग था। एक वक्त रूखा-सूखा खाकर, एक तंग आर्द्र कोठरी में रहकर २५)-३०) बच रहते थे। अब दोनों वक्त भोजन मिलने लगा। मगर थोड़े ही दिनों में उसके खर्च में औषधियों की एक मद बढ़ गयी। फिर वही पहले की-सी दशा हो गयी। बरसों तक शुद्ध वायु, प्रकाश और पुष्टिकर भोजन से वंचित रहकर अच्छे-से-अच्छा स्वास्थ्य भी नष्ट हो सकता है। सत्यप्रकाश को अरुचि, मंदाग्नि आदि रोगों ने आ घेरा। कभी-कभी ज्वर भी आ जाता। युवावस्था में आत्मविश्वास होता है। किसी अवलम्ब की परवा नहीं होती। वयोवृद्धि दूसरों का मुँह ताकती है, कोई आश्रय ढूँढ़ती है। सत्यप्रकाश पहले सोता, तो एक ही करवट में सवेरा हो जाता। कभी बाजार से पूरियाँ लेकर खा लेता, कभी मिठाई पर टाल देता। पर अब रात को अच्छी तरह नींद न आती, बाजारू भोजन से घृणा होती, रात को घर आता, तो थककर चूर-चूर हो जाता। उस वक्त चूल्हा जलाना, भोजन पकाना बहुत अखरता। कभी-कभी वह अपने अकेलेपन पर रोता। रात को जब किसी तरह नींद न आती, तो

उसका मन किसी से बातें करने को लालायित होने लगता। पर वहाँ निशान्धकार के सिवा और कौन था ? दीवारों के कान चाहे हों, मुँह नहीं होता। इधर ज्ञानप्रकाश के पत्र भी अब कम आते थे, और जो आते थे, वे भी रूखे। उनमें अब हृदय के सरल उद्गारों का लेश भी न रहता। सत्यप्रकाश अब भी वैसे ही भावमय पत्र लिखता था; पर एक अध्यापक के लिए भावुकता कब शोभा देती है ? शनैः शनैः सत्यप्रकाश को भ्रम होने लगा कि ज्ञानप्रकाश भी मुझसे निष्ठुरता करने लगा, नहीं तो क्या मेरे पास दो-चार दिन के लिए आना असंभव था ? मेरे लिए तो घर का द्वार बन्द है, पर उसे कौन-सी बाधा है ? उस गरीब को क्या मालूम कि यहाँ ज्ञानप्रकाश ने माता से कलकत्ते न जाने की कसम खा ली है। इस भ्रम ने उसे और भी हताश कर दिया।

शहरों में मनुष्य बहुत होते हैं, पर मनुष्यता बिरले ही में होती है। सत्यप्रकाश उस बहु-संख्यक स्थान में भी अकेला था। उसके मन में अब एक नयी आकांक्षा अंकुरित हुई। क्यों न घर लौट चलूँ। किसी संगिनी के प्रेम की क्यों न शरण लूँ ? वह सुख और शान्ति और कहाँ मिल सकती है ? मेरे जीवन के निराशांधकार को और कौन ज्योति आलोकित कर सकती है ? वह इस आवेश को अपनी सम्पूर्ण विचार-शक्ति से रोकता, पर जिस भाँति किसी बालक को घर में रखी हुई मिठाइयों की याद बार-बार खेल से घर खींच लाती है, उसी तरह उसका चित्त भी बार-बार उन्हीं मधुर चिन्ताओं में मग्न हो जाता था। वह सोचता—मुझे विधाता ने सब सुखों से वंचित कर दिया है, नहीं तो मेरी दशा ऐसी हीन क्यों होती ? मुझे ईश्वर ने बुद्धि न दी थी क्या ? क्या मैं श्रम से जी चुराता था ? अगर बालपन ही में मेरे उत्साह और अभिरुचि पर तुषारो न पड़ गया होता, मेरी बुद्धि-शक्तियों का गला न घोंट दिया गया होता, त मैं भी आज आदमी होता; पेट पालने के लिए इस विदेश में न पड़ा रहता। नहीं, मैं अपने ऊपर यह अत्याचार न करूँगा।

महीनों तक सत्यप्रकाश के मन और बुद्धि में यह संघर्ष होता रहा। एक दिन वह दूकान से आकर चूल्हा जलाने जा रहा था कि डाकिये ने पुकारा। ज्ञानप्रकाश के सिवा उसके पास और किसी के पत्र न आते थे। आज ही उनका पत्र आ चुका था। यह दूसरा पत्र क्यों ? किसी अनिष्ट की आशंका हुई। पत्र